तृतीय अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में

आदिवासी अस्मिता का प्रश्न

तृतीय अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में आदिवासी अस्मिता का प्रश्न

उपन्यास को बुर्जूआ महाकाव्य कहा जाता है। विश्व साहित्य में इसकी उत्पत्ति का कारण बुर्जूआ नीतियों की हिमायत करना था। इसने राजतंत्र के समकक्ष जनतंत्र की सम्भावनाओं की नींव रखी थी। इसके साथ ही इसने भविष्य के जटिल सामाजिक ढांचे की भवितव्यता का स्वप्न भी स्वयं में समाविष्ट कर रखा था। एक समय यह उपनिवेशवादी शक्तियों का अंग हुआ करता था, जबकि परवर्ती काल में उपनिवेशितों ने इसे अपना शब्द माध्यम बनाया और अपने संघर्ष को गति देने का कार्य किया। तीसरी दुनिया के देशों के वंचितों के लिए यह उपनिवेश से लड़ाई में एक हथियार सिद्ध हुआ। उस समय से आजतक यह उपनिवेशितों का मुखपत्र है। ऐसे में निखिल विश्व की चौथी दुनिया अर्थात आदिवासियों की व्यथा-कथा कहने के लिहाज से उपन्यास की प्रयोजनीयता अस्वीकृत नहीं की जा सकती है।

3.1. **आदिवासी अस्मिता और हिन्दी उपन्यास:**

यथोक्त है कि आज उपन्यास वंचितों की पैरवी का एक मंच ठहरता है, ऐसे में हिन्दी उपन्यास भी अपवाद नहीं है। बात यदि आदिवासी जीवन का प्रकाशन करने वाले हिन्दी उपन्यासों की जाए तो उनकी अपनी एक परम्परा है, जिसे हम विगत अध्याय में देख-सुन चुके हैं। हिन्दी उपन्यासों ने अपने लिहाज से आदिवासी जीवन की पड़ताल की है। इस अध्याय में हम समकालीन हिन्दी उपन्यास में आदिवासी अस्मिता का प्रश्न पर विचार करेंगे। इस कार्य हेतु अपनी कसौटी का आधार निम्नलिखित दस उपन्यास होंगे, जिन पर विशेष रूप से बात की जाएगी :-

'धार', 'छैला संदु', 'समर शेष है', 'धूणी तपे तीर', 'काला पादरी', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'आमचो बस्तर', 'जहाँ बाँस फूलते हैं', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', 'गायब होता देश'।

इन उपन्यासों के चयन का आधार यह रहा है कि आदिवासी जीवन के वैविध्यमुखी चेहरे को उसके सारे अंतर्विरोधों के साथ देखा-समझा जा सके। इसके साथ ही आदिवासियों के अलग-अलग समाजों को भी इनके माध्यम से उनके भूगोल और उनकी संस्कृति विशेष के संदर्भ में जाना जा सके। इसलिए अपना यह प्रयास रहा है कि आदिवासियों के बहाने भारत के वैविध्य की पड़ताल की जा सके क्योंकि भूमंडलीकरण के इस दौर में सबसे अधिक खतरा किसी देश-काल के वैविध्यमुखी अस्तित्व पर ही है। इसलिए भारतीय विविधता के संरक्षण का अपना एक लघु स्वार्थ तो है ही।

3.2. **आदिवासी अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिन्दी उपन्यास का अध्ययन:**

'धार':

'धार' उपन्यास संजीव द्वारा लिखा गया ऐसा उपन्यास है, जिसमे संथाल परगना के संथाल आदिवासियों की जीवन-शैली को उक्त रचना का आधार बनाया गया है। इसमें आदिवासी समाज का शोषण,पूंजीपति और श्रमिकों का संघर्ष, भूत-प्रेत, नारी की स्थिति, जहाँ आदिवासी समाज के लोगों के आवास, खान-पान, अंधविश्वास, जात-पांत, अभाव, शोषण, शोषण के प्रति विद्रोह, कोयला खदानों में लूट-पाट, राजनीति जैसी अनेकानेक धाराओं का प्रवाह है।

आलोच्य उपन्यास में मैना नामक एक संथाली औरत को केन्द्र में रखा है और उसी के आस-पास पूरा उपन्यास घूमता है। गाँव में रोजगार देने के नाम पर आदिवासी फोकल की जमीन लेकर तेजाब की फैक्ट्री खोली जाती है और मैना गाँव में तेजाब की फैक्ट्री का विरोध करती है, जिस कारण उसे जेल भी जाना पड़ता है। आदिवासी समाज भी अन्य समाजों की भांति आत्मसम्मान, अस्मिता और अधिकार की इच्छा रखता है। आज साहित्य ने आदिवासी समाज की जरूरतों को

पहचाना है, जिसके तहत आदिवासी समाज अपने हक़ के लिए जागरूक हो रहे हैं। इतना ही नहीं बल्कि, साहित्य उन्हें जागरूक बनाकर उनको मुख्यधारा का अहम् हिस्सा बनाने का कार्य निरन्तर कर रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों को अपने अस्तित्व को बचाए रखने की चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। आदिवासी समाज का अपनी जमीन से विस्थापन एक बड़ी समस्या है एवं इस विस्थापन के पश्चात् पुनर्वास एवं रोजगार की समस्या का गहरा संकट खड़ा हो जाता है। इनकी इस समस्या पर युवा आलोचक डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखते हैं- "पुनश्च, व्यवस्था द्वारा उनके उचित पुनर्वास की व्यवस्था किया जाना एवं उन्हें सम्मानपूर्वक जीवन जी सकने के लायक बनाना भी उतना ही आवश्यक है। इसके लिए पूरे आदिवासी समाज को उचित रोजगार दिए जाने स्थायी व्यवस्था हो। मनरेगा जैसी और अधिक योजनाओं के तहत उनके रोजगार की संभावनाओं को सुनिश्चित किया जाए, जिससे वे जरायमपेशा छोड़कर एक सुनिश्चित एवं बेहतर भविष्य की ओर बढ़ सकें एवं समाजों का विस्थापन समाप्त हो सके।"[1]

मैना पढ़ी-लिखी नहीं होने के बावजूद इतना तो समझती ही है कि गाँव में तेजाब की फैक्ट्री लगने के कारण वहाँ का जल, हवा, जमीन और जंगल पूरी तरह प्रभावित हो रहे हैं। पूरा का पूरा वातावरण प्रदूषित हो गया है। हवा पूरी तरह विषैली हो गई है, जिसके कारण गाँव के सभी लोग बीमारी के मुख मे समाहित हो गये हैं। यह केवल इस उपन्यास की ही कथा नहीं बल्कि यह आदिवासियों के जीवन का कटु सत्य है, जिसका निर्माण हमारा तथाकथित सभ्य समाज कर रहा है। आदिवासी समाज के लोगों की अपनी संस्कृति के प्रति जितनी भी श्रद्धा हो, पर वे अपने जीवन में तांत्रिक-ओझा का सहारा अवश्य लेते हैं। आदिवासी समाज में अंधविश्वास का महत्वपूर्ण स्थान है। अंधविश्वास और अशिक्षा के कारण ही आदिवासी समाज में डायन बनने और बनाने की परम्परा भी रही है। "आदिवासी बहनों का जीवन दुःखी होने का एक और कारण उनमें अन्धविश्वास का पाया

जाना। वे भयंकर से भयंकर बीमारियों में झाड़-फूंक और ओझाई से काम चला लेती हैं। टोना-टोटका, भूत-प्रेत और मंत्र-तंत्र में उनका इतना विश्वास है कि उसे हर कार्य की दवा समझती हैं।"[2]

संजीव भी आदिवासी समस्या को पूरी सच्चाई के साथ अपने उपन्यास में दिखाते हैं। तेजाब की फैक्ट्री से निकलने वाले पानी को पीने की वजह से जब मैना की भैंस मर जाती है, तब मैना का बाप ओझा को बुला कर लाता है। ओझा भैंस की मृत्यु का कारण मैना की माँ को डायन होना बताता है। इसके बदले मैना की माँ को अपनी जान देनी पड़ती है। उसी प्रकार मैना को भी मारने के लिए महेन्दर बाबू ओझा के साथ मिलकर षड़यंत्र रचता है, परंतु ऐसा उसके साथ ना हो सका- "मैना !' शाल के पत्ते में झांकते हुए आखिर ओझा घोषणा करता हैतो एक बार फिर अस्थिरता छा जाती है कि पंचानन ओझा के पीछे खड़ी वह भाग खड़ी होगी-लेकिन नहीं। एक मुहूर्त के अन्तराल होते हीउसके हाथ ओझा के गरदन पर पड़ते हैं और हलाल होते बकरे की तरह छटपटाने लगता है ओझा, खा जाहिर थान का कसम! खा माराँ बुरू का कसम"[3]इसके बाद फैक्ट्री तैयार हो जाती है और फैक्ट्रियों में काम कराने के लिए आदिवासी समुदाय के लोगों को मजबूर किया जाता है। उन्हें लालच देकर बहलाया-फुसलाया जाता है। ऐसा ही दृश्य इस उपन्यास मे भी देखा जा सकता है। इस संदर्भ में मामा और फोकल के संवाद दर्शनीय हैं। मामा बोलता है -"महेन्दर बाबू मैना के बाप के पास आए, बोले ऐसे तो सब भूखले मर जाएगा, आप जमीन का बन्दोबस्त करो तो हिंया एक ठो कारखाना लगा दें.....अब क्या बताएँ ...।अरे खेती में क्या रखा था-ऐ! मुश्किल से तीन महीने का धान, कोदों, महुआ, खेसारी। फैक्टरी से कम-से-कम साल-भर नून-रोटी, चाहे माँड़-भात तो जुट जाता है। मामा की बात शेष नहीं हुई कि दूसरे आगंतुक ने हस्तक्षेप किया, तू काहें नहीं पच्छ लेगा मामा, तोरा तो माँड़-भात और एक बोतल भी रोज भेंटा जाता था।"[4]शोषणकारी योजनाओं और उससे संबंधित घोषणाओं के कारण आदिवासी जीवन आर्थिक संकट से जूझने लगता है। ज्यादातर आदिवासी

महिलाएँ घर को चलाने का कार्य किया करती है। आदिवासी स्त्रियों को भी घर चलाने के लिए अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ता है। उनके जीवन में धन का इतना अभाव होता है कि वे मानव-तस्करी के तहत या तो खुद ही जिस्म की मंडियों में पहुंच जाती हैं या उन्हें वहाँ पहुँचा दिया जाता है। आदिवासियों की यह समस्या यह उपन्यास भी दिखाता है। आदिवासी लड़कियाँ आर्थिक तंगी के कारण देह व्यापार लग जाती हैं। मैना रात में देखती है -"एक ट्रक की ओट में बसंती एक सरदार से बात कर रही है। शायद ट्रक ड्राइवर हो। फिर उसने देखा झोंपड़ी से तुरिया निकली। तुरिया और यहाँ? और वह आदमी उसे पैसे क्यों दे रहा है? दूसरी झुग्गियों की गैस की रोशनी में उसे एक गुलगुलिया लड़की शोभा दिख गई। उसके साथ एक संताली लड़की भी थी, दोनों नशे में धुत्त। एक चिनगारी-सी चिरचिराई। तो इसका मतलब यह हुआ कि आसनसोल, लक्षीपुर की तरह यहाँ भी रात को चकला चलने लगा।"[5] मैना आदिवासी महिलाओं में चकलाघर छोड़ने के लिए आत्मविश्वास पैदा करती है। तुरिया को बीमार देखकर मैना उसे काम दिलाने का साहस दिलाती है। वह तुरिया से कहती है- "तू ऐसा कर, कल सितवा और उसका मरदजन खदान जाएगा, तू भी चली आ। फिर उसके विवर्ण चेहरे को देखते हुए बोली, "तू-ई-नईं, ऊ सब मौगी लोग(औरतें) जो चकलाघर छोड़ के काम करना चाहता है।"[6]

संजीव 'धार' उपन्यास में संथाल परगना की समस्याओं को दिखाते हैं, मज़े की बात यह है कि पूरा देश जानता है कि संथाल परगना की भूमि काले हीरे की खान है। इसी खान की लूट-पाट के लिए आदिवासी समाज का शोषण होता है। अवैध खनन का प्रभाव उपन्यास में साफ दिखाई पड़ता है। इलाके में कोयले के अवैध खनन से जमीन खोखली हो गई हैं और ठेकेदार मजदूरों से जोखिम भरा अवैध खनन करने के लिए उन्हें मजबूर करता है। मजदूरों के द्वारा मना करने पर मजदूरी काटने की धमकी देता है। फोकल खुद गुफा के अन्दर से मजदूरों को ललकार रहा था कि गुफा धंस जाती है

और फोकल उस गुफा के अन्दर से ही अपने मालिक को आवाज लगाता है। टॉर्च जलती है और एक आवाज आती है "अरे मार रे। अभी जिन्दा ही है साला! मार के भर दे नून सब जगह। धीमे से डाँटते हैं महेन्दर बाबू और खुद लाठियों से खोभने लगते हैं। खस्स!खस्स!! खोभ-खोभकर नमक भरा जा रहा है हर खाली जगह में।"[7] गौर करने की बात है यह वही फोकल था, जिसने महेन्दर बाबू को अपनी जमीन तेजाब का कारखाना खोलने के लिए दी थी। भोले-भाले आदिवासी समाज को लूटने का सबसे सीधा तरीका है यह है कि पहले उन्हें प्रलोभन दो ताकि उनके बीच अपनी जगह बन सके और जगह बनते ही उन्हें ही वहाँ से खत्म कर दो। ऐसा हमारे देश की कम्पनियाँ और उन कम्पनियों से जुड़े नेता और तथाकथित सभ्य समाज करता ही रहता है अर्थात् उपयोग करो और नष्ट कर दो।

दुःख, अभाव, शोषण एवं पीड़ा के बीच आदिवासी समाज अपने पर्व एवं त्योहारों को पूरे उल्लास के साथ मनाता है। मैना कोयले के अवैध खनन के नाम पर सिपाही को पचास रुपये देकर मंगर को छुड़ाकर लाती है। "उसके पीछे-पीछे चलती मैना का तब जैसे इस प्रकृति और उसके संताली मन का क्षण भर का सामना होता है, बासन्ती भोर की टटकी हवा में पतझड़ के बाद पेड़ों पर नई कोपलें फूट रही थीं। आमों पर बौर आ गये थे।उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि मौसम और पर्व कैसे आते हैं, कैसे जाते हैं- वह सब कुछ भूल चुकी है। बधना परब कब बीता, पता ही नहीं। कोई बता रहा था टिपका तीर के निशाने में फस्ट आया था। वह नाचना गाना तक भूल गई क्या! ना,इस बार सरहुल में जी भर के हंडिया पीकर के नाचेगी, जाहिर थान नहीं गई बहुत दिन से..संथाली बोले महीनों हो गए, जब देखो तब ई गुलगुलीया और हिन्दी की चटखनी बोली! शर्मा थे तो सब ठीक था, कितना उत्साह था उस आदमी में और उसके साथियों में? कितना कट गया है बाँसगड़ा दूसरे गाँवो से और वह खुद भी...!"[8]

अविनाश शर्मा और उसके सहकर्मियों का वामपंथी दल बस्ती में लोगों को संगठित कर राजनीतिक दृष्टि से लोगों को सचेत करते हुए ठेकेदारों का विरोध करते है- "लौटकर हम एक अचरज देखा, हम तो भाग गए , लेकिन कोइलाचोर नहीं भागे, वे हियाँई हैं। और हम..? हम जगह-जगह का ठोकर खा के आ रआ है। हर जगह एक-ई बात। दू चार को काम मिला है, हजारों बेकार! हमरा खातिर परमामिंट काम कईं नईं। चाहे ठीकेदारी में माँस नुचवाओ, चाहे चोरी-छुपे कोइला काट के पुलिस और गुंडा का पाकिट भरो, चाहे चोरी करो। कुल मिला के कुत्ता के माफिक ई धुरा से ऊ धुरा, ई नाली से ऊ नाली, ई दरवज्जा से ऊ दरवज्जा का गन्दा चाटो, आपस में एक दूसरे से लड़ो, लड़कर मरो। आप दूसरा ठीकादर का ठीका में काम कर सकता है, तो अपना ठीका काँये नईं चला सकता"[9] कारखाने का मालिक महेन्दर स्थानीय लोगों को बाँटकर एवं पुलिस को रिश्वत खिला कर उनके द्वारा किये हुए काम को बन्द कराने के लिए भेजता है- "हाँ, कहा तो है लेकिन खदान तो मजदूरों की है, मैं आपकी बात कनवे कर देता हूँ।' पुरकाइत रोकते रह गए लेकिन शर्मा ने भीड़ की ओर मुँह बनाकर कहा, "बोलते हैं बीस हजार दो, तो परमीसन दे रात को चोरी से कोयला काटने का" "बीस हजार?" मजदूरों में अस्थिरता आ गई"।[10] इस बात को सुनकर मोरम गाँव के दुलार मंडल ने कहा- "हिँया दस दिन से एक भी आदमी मजूरी नहीं लेता, घर से खा-पी के इसको खड़ा किया और कोयला निकलने का बखत आया तो इनको दे दें बीस हजार! जाके मुर्गा बोतल और रंडी के साथ मौज करें-वाह रे!"[11]

दूसरी ओर, इस उपन्यास में जो जन-खदान शर्मा और मजदूरों के सामूहिक प्रयास से शुरू की गई थी, उस जन-खदान को गैरकानूनी घोषित कर तोड़ दिया जाता है।सरकार के समक्ष मजदूरों ने अपनी माँग रखी कि इस जन-खदान का राष्ट्रीयकरण कर मजदूरों की नौकरी स्थायी करे। परन्तु सरकार ने उन लोगों की इस माँग को मानने से इनकार दिया। राष्ट्रीयकरण के तहत जन-खदान को

मैना सरकार के दलालों एवं तथाकथित शोषणकारी शक्तियों के हाथों में जाने से रोकना चाहती है। जन-खदान को जब पाटने की बात आती है, तो मैना बुलडोजर के सामने जा कर खड़ी हो जाती है और बुलडोजर "जिन्दा मैना को रौंदते हुए चला गया। पीछे मुड़कर देखा तो मिट्टी सपाट हो गई थी, लेकिन आगे नजर जाते ही वह दंग रह गया। आगे फिर मैना खड़ी थी। पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ भी। माटी के बीच से एक मैना उभरी आ रही थी। अगल-बगल देखा, तो दोनों बाजुओं पर मैना ।"[12] कहना न होगा कि मैना वहाँ व्यक्ति से विचार में तब्दील हो जाती है। यह विचार क्रांति और परिवर्तन की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। सब कुछ टूट-बिखर जाने के बाद भी मैना वहाँ एक किंवदन्ती बन कर जाती है। "जहां-जहाँ बुलडोजर पहुचता है, वहाँ-वहाँ मैना होती है । कितनी लम्बी डुबकी मारके कहाँ उतरायेगी, इसे कोई नहीं जानता। वह मरी नही, मर सकती भी नहीं, जिस दिन बुलडोजर को उलट आयेगी, वह हमारे बीच चली आयेगी। अभी उसकी झलक पाने का सिर्फ एक उपाय है-जुगनू। जहाँ-जहाँ अँधेरे में जुगनू आप को चमकता दिखलाई दे। ईमानदारी से पुकारिए, मैना! ध्यान साधे रहिए-बहुत गहराई से कोई जबाव आयेगा- हूँ...!"[13] 'धार' उपन्यास सम्पूर्ण तंत्र को बदलने की दृष्टि को देता है। उन कारणों को ही यह उपन्यास चुनौती देता है, जिनकी वजह से आदिवासी समाज अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर है। यही नहीं यह उपन्यास उन कारणों से टकराने की प्रेरणा भी देता है। कुल मिलाकर इस उपन्यास में शोषण एवं अत्याचार के मध्य अपने अस्तित्व को बचाए रखने का आदिवासी संघर्ष दिखाई पड़ता है। स उपन्यास के माध्यम से एक बात साफ होती है कि यदि यह आदिवासी समाज सामूहिक रूप में अपने अस्तित्व, मान-सम्मान के लिए संघर्ष करे, तो उसे कामयाबी जरूर मिलेगी। कहना न होगा कि यह उपन्यास कहीं-न-कहीं सकारात्मकता की तरफ जाता है, जो संजीव की एक रचनाकार के रूप में सकारात्मक सोच का प्रमाण है।

'ग्लोबल गाँव के देवता':

'ग्लोबल गाँव के देवता' भारतीय ज्ञानपीठ से पुरस्कृत कृति है, जिसका सन् 2009 में प्रकाशन हुआ था और इससे एक लेखक के रूप में रणेन्द्र को पहचान मिली। यह उनका पहला उपन्यास भी है। इसमें आदिवासी जीवन-स्थिति का पूरा सच दिखाई देता है। उक्त रचना में झारखंड के आदिवासी समुदाय (असुर) को कथा के केन्द्र में रखा गया है। यह उपन्यास असुर समुदाय के लोगों के निरन्तर संघर्ष का लेखा-जोखा है। इस उपन्यास में जिन आदिवासी समस्याओं को दिखाने का प्रयास किया गया है, उनका आज अचानक ही जन्म नहीं हुआ है, बल्कि वे तो प्राचीन समय से ही चली आ रही हैं। पहले तो देवता असुरों का शोषण किया करते थे और आज भी देवता (विकसित लोग) ही आदिवासियों का शोषण किया करते हैं। इस उपन्यास को पढ़ते समय पता चलता है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ भी इनके शोषण के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार हैं। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि इन क्षेत्रों पर मल्टीनेशनल कम्पनियों की कुदृष्टि पर पड़ चुकी है। झारखंड में अनेक कम्पनियाँ आती हैं, जो यहाँ की जमीन से खनिजों को अत्यधिक मात्रा निकाल कर ले जाती हैं और वहाँ के लोगों को दफ़न होने के लिए केवल गड्ढे छोड़ जाती हैं; जिनमें बरसात के दिनों में पानी भर जाने की वजह से मच्छर जन्म लेते है। इस वजह से इलाके में घातक बीमारियाँ फैल जाती हैं। यहाँ एक बात समझ में आती है कि जो किसान अनाज व बीज को पैदा करते हैं, उनकी हालत गरीबी से संघर्ष करते हुए जस की तस रह जाती है, जबकि उस बीज एवं अनाज को बेचने वाले करोड़पति हो जाते हैं। इस उपन्यास में अंधविश्वास, आद्य मिथक से इतर नव मिथक की यात्रा को, अशिक्षा, स्त्री-शोषण, लूट-खसोट, विद्रोह, धर्म तथा आदिवासियों की दयनीय स्थिति को गहराई से दिखाने का प्रयास किया गया है।

आलोच्य उपन्यास के द्वारा रणेन्द्र ने सबसे पहले असुर कहे जाने वाले आदिवासी लोगों के प्रति प्रचलित मिथक को तोड़ा है। जब लेखक की मुलाकात पहले पहल लालचन असुर से होती है, तो उसकी असुरों के प्रति पोषित पूर्व समस्त धारणाएँ खंडित हो जाती हैं। असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे चौड़े, काले कलूटे, भयानक दाँत-वाँत निकले हुए, माथे पर सींग–वींग लगे हुए लोग होंगे लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पलट हो रहा था। एक अन्य सन्दर्भ में भी ऐसा ही दृश्य दिखाई पड़ता है कि "आज हर बात मुझे चौंका रही थी। लग रहा था कि हफ़्ता दिन बाद आज आँखें खुली हों। यह छरहरी- सलोनी एतवारी भी असुर ही है, यह जान कर मेरी हैरानी बढ़ गयी थी। हफ़्ता भर से इसे देख रहा हूँ, न सूप जैसे नाखून दिखे, न खून पीनेवाले दाँत। कैसी- कैसी गलत धारणाएँ! खुद ही अजब–सी शर्म आ रही थी।"[14]

अन्धविश्वास, जो आदिवासियों के जीवन का एक अहम् पहलू है, जो सदा इनके बीच रहता है और साथ–साथ चलता भी है; रणेन्द्र के इस उपन्यास को पढ़ते हुए आदिवासियों की यह कमजोरी साफ-साफ दिखाई पड़ती है। इस उपन्यास की शुरुआत में ही एक आदिवासी असुर युवक के घायल होने का कारण अन्धविश्वास ही जान पड़ता हैं। यहाँ के लोगों का मानना है- "दरअसल अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून से सानकर बिछड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है"।[15] ऐसे ही अंधविश्वास के चलते लालचन का सर मूड़ीकटवा लोग काट ले जाते है। अंधविश्वास इस समाज की एक बड़ी समस्या है, जो इस उपन्यास में बहुत ही गंभीरता से चित्रित हुई है।

आज शिक्षा हमारे देश एवं समाज के स्वर्णिम विकास के लिए अतिआवश्यक कारक है, जिसका बहुत थोड़ा हिस्सा इन जनजातियों को प्राप्त होता है और कुछ जगहों पर उन्हें यह भी नसीब नहीं होता। लेखक द्वारा इनकी शिक्षा व्यवस्था में हो रही धाँधलियों की ओर पाठकों के ध्यान को

आकर्षित करने का प्रयास किया गया है। इस पूरे प्रकरण में सबसे दिलचस्प बात यह है कि शिक्षा के लिए आदिवासी लोगों को आधार बनाकर विद्यालय खोले जाते हैं, विद्यालय खुलने पर वह आधार(आदिवासी) ही गायब हो जाता है, जिसके लिए विद्यालय खुला था अर्थात शिक्षा से आदिवासियों को बेदखल कर दिया जाता है और उन पर उच्च वर्ग का कब्जा हो जाता है। शिण्डालको नामक कम्पनी असुर लोगों के गाँव से बाक्साइड एवं अन्य खनिज पदार्थों का उत्खनन करती है और फिर उस गाँव की जमीन में हुए गड्ढों को उसी तरह खुला छोड़ जाती है, जिसके कारण इन असुर जाति के लोगों को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। आलोच्य उपन्यास में असुर समाज की सांस्कृतिक एवं भौतिक संपदा को ताकतवर लोगों के द्वारा लूटे जाने की चिंता विद्यमान है। ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व शिण्डालको, वेदांग जैसी कंपनियाँ और शिवदास बाबा जैसे लोग कर रहे हैं। ऐसे में आदिवासी समाज के द्वारा अपने आप को बचाए रखने एवं अपने अस्तित्व को कायम रखने का संघर्ष ही उक्त उपन्यास की कथा की धुरी है । इस क्रम में सत्ताधारियों के द्वारा उनके विद्रोह का बलपूर्वक दमन किये जाने का चित्रण भी लेखक ने बखूबी किया है।

'गायब होता देश':

'गायब होता देश' आज के उपनिवेशवादी दौर मेआदिवासी समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य के संकट की महा गाथा है। भारत में आर्थिक उपनिवेशन के क्रम में आदिवासी बहुल क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की स्थापना की जा रही है, जिसके कारण आदिवासी लगातार विस्थापित हो रहे हैं। उक्त उपन्यास से यह स्थिति दुलमी बाँध परियोजना से स्पष्ट होती है- "इसे पूरा करने के लिए सत्रह गाँवों का अस्तित्व मिट जाएगा। स्थानीय आदिवासियों द्वारा विरोध और सरकारी प्रयास के बीच संघर्ष चलता है। योजना पूरी होने के पहले क्षेत्र को विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) घोषित कर दिया

जाता है। सेज के नाम पर आदिवासियों की जमीन की लूट का धंधा शुरू होता है। यह प्रक्रिया जारी ही है कि इसी बीच रियल स्टेट वालों की नजर इस पर पड़ती है।"[16] आदिवासी समाज मे जागरूक आदिवासी को भी आज के दौर में निशाना बनाया जा रहा है। उनके संघर्ष को धूमिल किया जा रहा है। उपन्यास के पात्र वीरेन, परमेश्वर पाहन, अनुजा दी, डॉ. सोमेश्वर सिंह मुण्डा, एतवा दादा, सोनामनी दीदी ही क्यों न हों, इनके विरोध को दबाने के लिए विकास विरोधी कहा जाता है। फिर नक्सली घोषित कर इनकी हत्या करवा दी जाती है "परमेश्वर पाहन तो भारतीय सेना में रहते हुए 1971 मेंपाकिस्तान के साथ युद्ध में अपनी वीरता के लिएराष्ट्रपति द्वारा वीर चक्र प्राप्त कर चुका है। दुलमी बाँध परियोजना का विरोध करने के कारण नक्सली घोषित कर उसका फर्जी इनकाउन्टर कर दिया जाता है।"[17] रियल स्टेट ,व्यवसाय और खनन एवं कारपोरेट के लिए मीडिया भी उनके लिए माहौल तैयार करती है। इसके लिए ये लोग पत्रकार और मीडिया का भी सहयोग लेते है "अब वे दिन दूर नहीं कि उद्योगपतियों-उद्यमियों की सफलता की कहानियाँ अखबारों की हेडलाइन्स बनेंगी। ब्यूरोक्रेसी, लेजिस्लेशन की विफलता, गांव–गरीबी, बदहाली के किस्से बहुत हो गए। लोकनायक का स्वर्गवास हुए तो दशकों बीत गये, आप जैसे लोग वहीं खड़े कदमताल कर रहे हैं और आप को अपनी मेहनत का भ्रम भी है कि आपकी ही क्रान्तिकारी लेखनी से समाज बदलेगा। खुमारी से निकलिए नहीं तो दुनिया आगे निकल जाएगी, आप वहीं कदमताल करते रह जायेंगे।"[18] कारपोरेट सेक्टर आदिवासी महिलाओं को शारीरिक भोग के लिए इस्तेमाल करता है। पीड़िता एवं उसके परिवार को भी प्रताड़ित किया जाता है। यहाँ तक कि इनकी हत्या भी कर दी जाती है। उपन्यास में अनुजा नामक स्त्री पात्र के साथ थानेदार द्वारा की जा रही जबरदस्ती का विरोध करने पर पाहन बाबा की हत्या कर दी जाती है। एतवा मुण्डा की पत्नी के साथ बलात्कार किया जाता है। एतवा के द्वारा विरोध करने के दौरान हिंसा हो जाती है, तो एतवा को नक्सली घोषित कर दिया जाता है। यह हमारे

समाज का कितना विद्रूप चेहरा है, जो कि इस समाज को इज्जत से जीने भी नहीं देता है। इसी अव्यवस्था के बीच जब आदिवासी समुदाय को नक्सली घोषित कर दिया जाए और अपने ऊपर लगे नक्सली के तमगे से वह बचना चाहे तो वह क्या करे- "तभी मंगरा माय पर नजर पड़ी। अनुजा-सोमा दी उसे जबरदस्ती कपड़ा पहनाए जा रही थी। वो सब खोल-खोल के नंगी हो जा रही थी। पूरा देहिये नोचल-काटल लग रहा था। एक ठो छाती से पट्टी के बाद भी खून टपकिए रहा था। पैरों के बीच से खून की धार। एतना खून कि जहाँ खड़ी थी वहाँ की मिट्टी लाल हो गई थी। पचास-पचास साल की बूढ़ी-अधेड़, एंगा-माय के साथ ई अत्याचार कौन राकस लोग किया।''[19]रणेन्द्र ने इस उपन्यास के माध्यम से आदिवासी युवतियों के खरीद- फरोख्त की तरफ भी इशारा किया है। कंपनियों की नजर में इस समुदाय का जीवन चूहे और बिल्लियों के बराबर है क्योंकि दवा कम्पनी भी अपने डॉक्टरों से मिलकर इन पर अपनी दवाओं का ट्रायल करती हैं। इस उपन्यास के पात्र अमरेन्द्र मिसिर और किशन दा के संवाद से यह स्पष्ट होता है; ये सिन्हा डॉक्टर "जो सरकारी हॉस्पिटल का दवा सब बेच दे रहा था वे ही अपना प्राइवेट क्लिनिक में मुफ्त में दवा दे रहा है। शक तो होना था सर! खाली कुछ फार्म सब में ढेपा-दस्तख्त लगता है। विशेष बात ई कि ऊ दवइया सब बाजार में नयँ मिलता है।"[20]जेम्स मिल के आदिवासियों के साथ सहानुभूति भरे व्यवहार के पीछे उनका षड़यंत्रकारी चरित्र एवं व्यक्तिगत स्वार्थ है। सरकारों की शोषणकारी नीति से आदिवासी इलाकों से अत्यधिक मात्रा में खनिजों का दोहन हो रहा है। विकास की अंधी दौड़ में हम अपने आदिवासी समुदाय के मौलिक अधिकारों को भी नजर अंदाज कर रहे हैं। विकास के इस शोरगुल में आदिवासी व आदिवासी आवाज गायब होती जा रहीं है-"उधर सोनामनी दी-नीरज पाहन 'हत्यारे को फांसी' और पाहन बाबा हत्याकांड जाँच के लिए जुलूस, धरना प्रदर्शन करते। तो दूसरी ओर दुरगंदह बचाओ संघर्ष समिति ने नदी को अतिक्रमण मुक्त, क्लीन किशनपुर-ग्रीन किशनपुर, गंदी

बस्तियों का स्थानान्तरण आदि मांगों को लेकर ज्यादा बड़ा जुलूस, प्रदर्शन सेमिनार, कान्फ्रेंस की झड़ी लगा रखी थी। नतीजतन सारे शोरगुल बाबा की हत्या के सवाल खोकर रह गये।...उसके बाद आज न किशन दा हैं और न अनुजा सोमा दी का कोई पता। आदिवासियों की गाँवों-बस्तियों का उजड़ना पहले से भी तेजी से हो रहा है।"[21] आदिवासी समाज के शोषण का माध्यम कुछ धनलोलुप आदिवासी ही हैं। आदिवासी समाज में भी एक पूंजीपति वर्ग होता है, जो अन्य आदिवासी समाज के अधिकारों का समझौता करता है। किशनपुर में रियल स्टेट के आने के पश्चात आदिवासी जमीनों पर निर्माण के वक्त कुछ फ्लैट आदिवासियों के लिए आरक्षित किए गए थे, जो कि केवल एक साजिश का ही हिस्सा था। फ्लैट तैयार होने के पश्चात वह शहरी लोगों को बेच दिए जाते हैं, जिससे आदिवासी जनता अपने को छला हुआ पाती है। उन्हें पुन: अपनी स्थिति में रहना पड़ता हैं इसके साथ – साथ यह आदिवासी समाज को शहर से आये हुए लोगों के घरों में मजदूरी करना पड़ता है और ये शहरी लोग इनका जीवन स्तर उठने नहीं देते। रणेन्द्र के उपन्यास में भी यह समस्या मुखरित होती है। किशनपुर एक्सप्रेस में किशन दा के एक आलेख से यह स्थिति स्पष्ट होती है- "जब तक यह मलीन बस्तियाँ सेवकों- गुलामों की रहवास होती हैं, बर्दाश्त की जाती है। लेकिन जैसे ही ये बस्तियाँ खुद मुख्तार होने लगती हैं, हुनरमंद पीढ़ी अपने पैरों पर खड़ी होने लगती है, वे अखरने लगती हैं। जैसे ही काम वाली बाई का बेटा या मली की बेटी बाइक-स्कूटी पर नजर के सामने से फर्राटे से निकलने लगते हैं, वैसे ही जलन की दाह निकलनी शुरू हो जाती है।"[22]

आलोच्य उपन्यास आदिवासियों की वर्तमान समय में त्रासद स्थितियों का भाष्य प्रतीत होता है। यह स्पष्टतः दिखाता है कि विकास के नाम पर उनसे बस छीना जाता रहा है।

'धूणी तपे तीर':

हरिराम मीणा ने 'धूणी तपे तीर' उपन्यास दक्षिणी राजस्थान में बसे आदिवासी समाज के विद्रोह को केंद्रित कर लिखा है। यह उपन्यास वास्तव में उपनिवेशवादी दौर का एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है, जिसे इतिहास के पन्नों में दर्ज नहीं किया गया है। इतिहास लेखकों के इतिहास लेखन की कार्यशैली पर सवालिया निशान उठाते हुए आदिवासी चिंतक सोनवणे कहते हैं- "मानगढ़ का नरसंहार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का गौरव चिन्ह है। लेकिन इसका इतिहास में न होना इस बात का परिचायक है कि इतिहासकार भी पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं होते।"[23] यह उपन्यास हरिराम मीणा द्वारा काफी शोध के पश्चात लिखा गया है, जिससे आदिवासी विद्रोह के इस नरसंहार की कथा स्पष्ट होती है। आदिवासी समाज का यह विद्रोह उपनिवेशी दौर में सामंती एवं अंग्रेजी शासकों की मिली-भगत का परिणाम था।इस उपन्यास के संदर्भ में प्रो. सच्चिदानंद का कहना है-"'धूणी तपे तीर' उपन्यास कम, इतिहास अधिक है।"[24]

औपनिवेशिक काल से पूर्व आदिवासी लोगों का पहाड़, जल, जंगल, जमीन पर स्वतंत्र अधिकार होता था। परंतु शोषकों के आपसी गठजोड़ से इन पर शोषण बढ़ता गया-"अंग्रेजों के समर्थन और सहयोग से आदिवासियों का दमन और शोषण भी बढ़ गया। इसके लिए खैरवाड़ा में मेवाड़ भील कोर की स्थापना की गई। दमित-शोषित आदिवासियों में धीर-धीरे असंतोष बढ़ने लगा और विद्रोह होने लगे। पहला अफल विद्रोह बारापाल और पडोना में हुआ और धीरे-धीरे यह दूसरे इलाके में फैल गया। इसकी चरम परिणति 1913 के मानगढ़ विद्रोह में हुई।"[25]आदिवासी समाज के लोगों को अपने अधिकार क्षेत्र में किसी की दखलंदाजी न पूर्व में पसंद थी और न आज हीप्रिय है। आदिवासियों को अपने अधिकारों के प्रति समझाने वाले गोविन्द गुरु भील आदिवासियों के लिए शक्ति-केन्द्र के रूप में उनके मध्य मौजूद हैं। इसलिए ही हरिराम मीणा गोविन्द गुरु को बिरसा के

समक्ष रखते हैं। गोविन्द गुरु की इस ज्ञान देने की प्रवृत्ति से भील समाज के मुखिया एक बार झुंझलाकर डांटते हैं, तो गोविन्द गुरु उन्हें समझाने का प्रयास करता है। गोविन्द गुरु की बातों को सुनकर मुखिया जी बोलते हैं -" तू तो पुजारी बाबा के लक्खण सीखता जा रहा है रे। पर हम को घर के काम और बेगार के कारण फुर्सत ही नहीं मिलती। ये ज्ञान की बातें कब सुनें फिर उसका करेंगे भी क्या। हमें तो जैसे हमारे पुरखे जिये वैसे ही उम्र काटनी है।... मैं राज के विरोध की बात नहीं करता, लेकिन बुराइयों के खिलाफ लोगों में जागृति तो पैदा की ही जा सकती है ।... मुखिया गोविन्द की बातों से प्रभावित हुआ। उसने मन ही मन महसूस किया कि गोविन्द होनहार बालक है।"[26]

गोविन्द गुरु अपने जीवन के अल्प समय में ही कई आदिवासी क्षेत्रों का भ्रमण कर चुके थे। वे आदिवासी समाज की दीनता और गरीबी को देखकर अत्यधिक व्यथित हुए और इसके पश्चात गोविन्द गुरु ने आदिवासियों की स्थिति को सुधारने का बीड़ा उठाया, जिसके तहत उन्होंने आदिवासियों को उपदेशों के माध्यम से जीवन सुधारने की शिक्षा दी। "सब साफ-सफाई से रहना, शराब नहीं पीना, मांस नहीं खाना, अफीम का सेवन नहीं करना, हरा पेड़ नहीं काटना, बेगार नहीं करना, पानी छानकर पीना, सुबह जल्दी उठना, दातुन करना, शौच के बाद मिट्टी से तीन बार हाथ धोना, रोज नहाना।"[27] गोविन्द गुरु के द्वारा पूंजा, कुरिया, जोरिया, सोमा परमार एवं अन्य साथियों के सहयोग से सम्प सभा का गठन किया जाता है। गोविन्द गुरु मानगढ़ पर्वत पर प्रत्येक वर्ष कार्तिक पूर्णिमा को लगने वाले मेले में हजारों की संख्या में आए लोगों को उपदेश देता था और यह उपदेश वह आदिवासी समाज के भीतर जागृति पैदा करने के लिए देता था और कहता था- " पढ़ाई-लिखाई के महत्व को समझो, मैं स्कूल में नहीं पढ़ा, लेकिन इधर – उधर से आखर ज्ञान सीख लिया। तुम भी सीखो, बच्चों को पढ़ाओ तभी वे समझदार बनेंगे। गाँव–गाँव में जो थोड़ा पढ़ा लिखा हो, उसका धर्म है कि अन्य लोगों को पढ़ाये... देशी वस्तुओं को ही काम में ले आओ। विलायती वस्तुएं

फिरंगियों की संस्कृति को फैलाती हैं।"[28] गोविन्द गुरु आदिवासियों के लिए किसी देवता से कम न थे क्योंकि उन्होंने राजाओं के यहाँ बेगार करने की प्रचलित प्रथा का विरोध करने पर बल दिया। झाड़–फूंक, कंडा–डोरा और भोपा चमत्कार, शराब की बुराई दूर करने के लिए गाँव- गाँव कार्यकर्ताओं को भेजकर लोगों को समझाया कि इस तरह से मनुष्य के लिए बुराई है। गोविन्द गुरु पूंजा भील से मिलकर सम्प सभा और धूणियों के माध्यम से जागृति का ऐसा माहौल बनाते हैं कि भीलों में व्याप्त सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन होने लगता है। शराब में डूबे रहने वाले भील शराब छोड़ने लगते हैं।गोविन्द गुरु द्वारा चलाने गए शराब-बन्दी के अभियान का असर अब दिखने लगा था। आदिवासी समाज मे शराब की खपत काफी कम हो चुकी थी, जिसके कारण शराब व्यवसायियों पर बुरा असर पड़ा-"बाँसवाड़ा रियासत मे तीन वर्ष पूर्व 18,470 गैलन ठेका शराब की खपत हुई थी, जो वर्ष 1913 में इस समय तक मात्र 5,154 गैलन रह गई थी। सम्प सभा के आंदोलन से आबकारी आय में साल–दर–साल हो रही गिरावट से रियासती सरकार, जागीरदार व ठेकेदार सब चिंतित थे।"[29] ऐसे में रियासती लोग ब्रिटिश शासन के सहयोग से आदिवासियों का शोषण करना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके जल, जंगल, जमीन के सभी प्रकार के अधिकारों को खत्म कर दिया जाता है- "अंग्रेजों के समर्थन और सहयोग से आदिवासियों का दमन और शोषण भी बढ़ गया। इसके लिए खैरवाड़ा में मेवाड़ भील कोर की स्थापन की गई। वंचित और दमित-शोषित आदिवासियों में धीरे–धीरे असंतोष बढ़ने लगा और विद्रोह होने लगे। पहला सफल विद्रोह बारापाल और पडोना में हुआ और धीरे–धीरे यह दूसरे इलाकों में भी फैल गया। इसकी चरम परिणति 1913 के मानगढ़ विद्रोह में हुई।"[30] इस क्रम में गोविन्द गुरु द्वारा आदिवासी समुदाय के लोगों को मानगढ़ पर्वत पर एकत्र किया जाता है और दूसरी ओर एक आदिवासी जत्थे ने प्रतापनगर किले पर हमला कर दिया, जिससे रियासतों मे भय का माहौल फैल गया। आदिवासियों के इस विद्रोह को दबाने की क्षमता इनमें न थी, जिससे देशी

रियासतें ने अंग्रेजों से मदद की गुहार लगाई और "अंग्रेज यह नहीं चाहते थे कि भारत के किसी भी भू-भाग उनका नियंत्रण ढीला हो। आदिवासी विद्रोह की सफलता का सीधा अर्थ था कि संबंधित आदिवासी क्षेत्रों में सरकार का दखल समाप्त हो जाना। ब्रिटिश सरकार के लिए इसके आर्थिक दुष्परिणाम सामने थे। इनमें से प्रमुख था वन सम्पदा के निर्बाध दोहन में व्यवधान। रियासती इलाकों में फौजी कार्यवाही अंग्रेजों के लिए नया कदम नहीं था। यह उनकी साम्राज्यवादी रणनीति का पुराना हिस्सा था। ऐसे ही हस्तक्षेपों के मार्फत वे देशी राज्यों पर अपना शिकंजा कसते जा रहे थे।"[31] विद्रोह के दमन के लिए अंग्रेजी सेना की कम्पनियों का आना शुरू हो जाता है। 104 वेल्सले रायफल्स की एक कंपनी और मेवाड़ भील कोर की दो कम्पनियाँ मानगढ़ पर्वत की तरफ बढ़ने लगीं। समझौते की आशा मे बैठे हुए आदिवासियों एवं गोविन्द गुरु को सैनिकों की इस घेराबन्दी की खबर तक नहीं पहुंच सकी। गोविन्द गुरु को सुबह होते ही अचानक पता चलता है कि भूरेटियों की फौज चुप-चाप हमारी तरफ आ रही है। कैप्टन स्टोक्ले आदिवासियों पर फायर करवाना शुरू कर देता है, फिर आदिवासियों ने भी तीर और पत्थरों से हमला किया। कैप्टन स्टोक्ले आदेश देता है कि "इन सभी जंगली बन्दरों को भून डालो।"[32] ऐसे में गोविन्द गुरु जुझारू आदिवासियों को आर-पार की लड़ाई लड़ने को कहते हैं और सम्मान से जीने और मरने के लिए प्रेरित करते हैं- "गोलियों की बौछारों के बावजूद संघर्ष जारी था। गोविन्द गुरु के एलान के बाद लड़ाकू भगतों, सम्प सभा के अन्य कार्यकर्ताओं और पूंजा धीर द्वारा प्रशिक्षित रक्षा दल के सदस्यों में नया जोश फूटा। जैसे उफनती नदी का तेज प्रवाह राह के रोड़ों, चट्टानों और अन्य बंधनों को तोड़ता आगे बढ़ता जाता है, मौत को हथेली पर रख कर आदिवासी योद्धा अपने परम्परागत हथियारों के सहारे साम्राज्यवादी और सामन्तवादी ताकतों की विकसित बन्दूकों से भिड़ रहे थे।"[33] गोलियों की तड़तड़ाहट के बीच गोविन्द गुरु, पूंजा तथा अन्य कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया जाता है। कहना न होगा कि

उपर्युक्त घटना-क्रम से जलियांवाला बाग हत्याकांड जैसी बू आती है। आदिवासी समाज से जुड़ी घटना होने के कारण वर्चस्वशाली लोगों के द्वारा लिखे गए इतिहास ने इसकी नोटिस तक न ली। इस प्रकार आजादी का जो इतिहास हम पढ़कर बड़े हुए, वह कहीं-न-कहीं पूर्वाग्रह से ग्रस्त है और अधूरा तो है ही।

'समर शेष है':

विनोद कुमार ने 'समर शेष है' उपन्यास के माध्यम से झारखंड के आदिवासियों पर हो रहे महाजनी शोषण और इस शोषण को झेल रहे आदिवासियों के वर्ग संघर्ष को समाज के समक्ष रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। यह उपन्यास महाजनी शोषण के खिलाफ वर्ग संघर्ष की दो पीढ़ियों की लंबी समर-गाथा है। झारखंड का यह महाजनी शोषण आदिवासी समाज के लिए एक कोढ़ के समान है। उक्त उपन्यास में यह दिखाया गया है कि आदिवासी समाज महाजनों का कर्जदार हो जाता है और कर्ज समय से न चुका पाने के बाद उनसे उनकी जमीन व फसल छीन ली जाती है। साथ-ही-साथ इसमें यह भी दिखाया गया है कि स्त्री शोषण और अंधविश्वास के कारण आदिवासी पुन: महाजनों के दरबार मे पहुंच जाते हैं।

झारखंड में महाजनी शोषण के माध्यम से आदिवासियों को लूटना एक व्यापार-सा था। प्रत्येक महाजन आदिवासियों की जमीनों को हड़पना चाहता था। हेड़बरगा गाँव का सबसे बड़ा महाजन बिष्टू साव था, जिसका पिता पहले तो आदिवासियों के गाँव में सर पर टोकरी रखकर रोजमर्रा की चीजें बेचता था और बाद में वही महाजन बन गया। आदिवासियों को कर्ज देकर उनकी जमीन अपने नाम कराने का धंधा शुरू हो गया। उसने लगभग ऐसे सभी गाँवों को अपने अधीन कर लिया-"कौन सा गाँव ऐसा था, जहाँ उसके कर्जदार नहीं थे। उन गाँवों की बहुत सारी जमीन का मालिक दरअसल वही था।"[34] महाजनी का यह धंधा बिष्टू के मुंह में खून लगने जैसा था। पहले तो

वह गरीब आदिवासियों पर नजर रखता और उनके बुरे समय में पैसा अथवा अनाज देखकर उनकी सहायता करता। कुछ दिनों के पश्चात अचानक उधार दिए हुए पैसे व अनाज वापस मांगने लगता और आदिवासियों के द्वारा अनाज या पैसा वापस न दे पाने की स्थिति में उनकी जमीन गिरवी रख लेता-"जरूरत पड़ने पर डेवढ़ा ब्याज पर माझियों को भी धान उधारी पर देता और अगले वर्ष धनकटनी के बाद उनसे धान वसूलता। महाजनी का धन्धा खूब लाभकारी साबित हुआ। वह जान-बूझकर अपने कर्जदार को एक-दो वर्ष ढील दे देता और फिर किसी दिन ब्याज सहित अपना मूल और सूद वसूलने के लिए पहुँच जाता।"[35]

इस महाजनी शोषण के खिलाफ लड़ने का काम शीबू सोरेन के पिता सोबरन माजी करते हैं। रूपा के पति की मृत्यु पर विष्टू के द्वारा रूपा को दो मन धान दिया जाता है, जिसे कुछ दिनों बाद न लौटाने पर विष्टू के सभी पहलवान रूपा की पूरी फसल को बैलगाड़ी पर लाद कर ले जाने लगते हैं, जिसका विरोध सोबरन माजी करते हैं और बिष्टू साव की पिटाई कर देते हैं। बिष्टू की पिटाई से महाजनों मे डर पैदा हो आता है। रूपा की जमीन पर बिष्टू का कब्जा होने पर सोबरन माजी बौखला जाते हैं, जिसके बाद वे गाँववालों को एकजुट करके समझाते हुए कहते हैं- "रूपा की जमीन पर बाहर के लोग आकर चढ़ गए और तुम देखते रहे, धिक्कार है तुम लोगों पर...रूपा को साजिश करके उसके ही लोगों ने मरवा डाला और अब उसकी जमीन हड़पना चाहते हैं। क्या तुम लोग इसी तरह हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहोगे? क्या हो गया है तुम्हें? कैसी है यह कायरता अब उनमें से कोई इस गाँव में आये तो तीर से बिंध डालों। हाथ-पैर तोड़ दो, कैसा डर? किसका डर ? यह जमीन तुम्हारी, यह आसमान तुम्हारा। यह जंगल झाड़ सब तुम्हारे हैं। भूल जाओ कि तुमने इन्हें महाजनों के पास रेहन पर रखा है। किसी का कोई कर्ज नहीं है तुम पर। कोई दावा करे तो सर तोड़ दो उसका।"[36] सोबरन की इस बात से आदिवासियों के मन में उत्साह का संचार होता है। कुछ दिनों के पश्चात बिष्टू साव सरदार

और वीरबल को रूपा के जमीन का लालच देकर सोबरन माजी की हत्या करवा देता है। महाजनी शोषण के खिलाफ शुरू हुई यह जंग यहीं समाप्त नहीं होती। हत्या के बाद सोबरन का पुत्र शीबू सोरेन इसकी कमान सँभालता है।

इन आदिवासियों (गणेशी, भुवन माजी, डोमन) का शोषण केवल बिष्टू साव जैसे महाजन ही नहीं करते, बल्कि उसके जैसे अनेक शोषक प्रवृत्ति के लोग हैं, जो आदिवासियों की सहायता करने के बदले उनका शोषण करते हैं। उपन्यास का पात्र बिष्टू साव रूपा की हत्या कराने के पश्चात रूपा की जमीन को लक्ष्य कर सालखन की जमानत करवाता है। उसकी नजर रूपा की जमीन पर थी। साथ ही वह अपनी सामाजिक छवि भी बेहतर दिखाना चाहता था, जिससे कि कोई भी उसके झांसे में सहज ही आ जाए। इस संदर्भ में नन्दू साव अपने बेटे से कहता है-"गाँव वालों को भरोसा देने के लिए हमें उन दोनों की जमानत करवानी होगी। इसके अलावा बलराम माजी की जमीन पर भी तो कब्जा करना है। कौन गिरवी रखेगा उसे हमारे पास? सालखन और कार्तिक की ही तो अब वह जमीन हो गयी। उसे जमानत पर छुड़वा, मुकदमा लड़वा और इसके लिए पैसे से मदद कर। कर्ज लेगा तभी तो जमीन तेरे पास रहेगी। जेल में सड़ते रहेंगे वे दोनों तो उनकी पाँच एकड़ जमीन तुम्हारी कैसे होगी? उन दोनों को तो अन्त में फाँसी होनी ही है।"[37] इन जैसे लोगों की षड़यंत्रकारी नीति में पुलिस एवं कानून का भी सहयोग होता है। ऐसे ही विष्टू साव ने सोबरन गुरुजी की भी हत्या खेरवारों से करवा दी थी।

आलोच्य उपन्यास में यह दिखाया गया है कि इन आदिवासियों को प्रशासन का भी कोई सहयोग नहीं मिलता है। उक्त उपन्यास में प्रशासन के द्वारा शोषण के अनेक उदाहरण हैं। शीबू सोरेन एक साक्षात्कार में कहते हैं कि "महाजन बिना सरकारी इजाजत के भी कई तरीकों से आदिवासियों की जमीन हड़प लेते हैं। महाजन के पास पैसे हैं। वे पुलिस प्रशासन और नेताओं के पास जा सकते

हैं। गरीब आदिवासी अधिक से अधिक थानों तक जाता है और पुलिस की लाठी खाकर वापस आ जाता है।"[38]

आदिवासी स्त्रियों का शोषण गैर-आदिवासियों द्वारा किया जाना आम प्रक्रिया है। गैर-आदिवासी जब आदिवासी इलाके में प्रवेश करते हैं, तो उनकी नजर जमीन के साथ आदिवासी स्त्रियों पर भी हुआ करती है। वे इन दोनों का उपभोग करना चाहते हैं। महाजनी सभ्यता में उन्हें रखैल भी बना लिया जाता है। इस उपन्यास के माध्यम से यह पता चलता है कि इस प्रकार के शोषण का विरोध करने के लिए एक बार जमींदारों एवं बनियों से लड़ा गया पर उसका दुष्परिणाम आदिवासियों को भुगतना पड़ा-"इस बार मुंशी जमादार और कुछ सिपाहियों के साथ बनिया के दर्जनों लठैत गाँव में पहुँचे और दोनों (पिता बिन्द्रा और चाचा सिंघराय) की औरतों और दो जवान बहनों को पकड़कर अपने साथ ले गये। गर्भवती स्त्री को उन्होंने तो छोड़ दिया, लेकिन अन्य सबों के साथ मुंशी, जमादार, अन्य कारिन्दों और लठैतों ने महीनों अनाचार किया।"[39]

अद्यौगिकीकरण के चलते आदिवासी इलाकों कम्पनियों के प्रवेश से आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ता हैं। महाजनों का कर्ज न चुका पाने के कारण आदिवासियों की जमीन उनके हाथ से निकल जाती है और फिर अपनी ही जमीन पर वे मजदूरी करने को विवश होते हैं अथवा रोजगार के लिए उन्हें बाहर जाना पड़ता है, जहाँ न उन्हें ठीक से काम मिलता है और न ही ढंग की मजदूरी मिलती है। इसके अलावा बहू बेटियों का शारीरिक शोषण भी होता है। उपन्यास में म्होन माजी शिबू से कहते है- "जमीन से बेदखल आदिवासी औरतें-मर्द अब ठेका मजदूर बनते जा रहे हैं। यह तो अफसोस की बात है ही, लेकिन उससे भी ज्यादा अफसोस की बात यह है कि ठेकेदार उन्हें न्यूनतम मजदूरी नहीं देता। औरतों को मर्दों से कम मजदूरी देता है और उनका शारीरिक शोषण भी करता है।"[40]

शीबू महाजनी शोषण के खिलाफ आन्दोलन रूपा के खेत में लगी फसल को काटने के एलान से करता है। निर्मल शीबू को उस खेत का पूरा इतिहास बताता है, तो फिर उसके द्वारा यह एलान होता है- हम यह फसल रातों-रात काट लेंगे। आज ही रात या कल। गाँवों की औरतों को इकट्ठा करो। हम सभी भी लग जाएंगे। बस पौ फटने के पहले यह काम कर देना है।" यहीं से शीबू के द्वारा धनकटनी आन्दोलन प्रारम्भ होता है। शीबू गाँव-गाँव घूमकर यह पता करता है कि कौन-से आदिवासी की जमीन किस महाजन के कब्जे में है। जनता शीबू के इस आन्दोलन को देखकर उसके भीतर उसके पिता की छवि को देखने लगी थी। शीबू के इस आन्दोलन को संथाल सुधार समिति के सदस्यों का समर्थन मिल रहा था। साथ ही यह आन्दोलन व्यापक रूप लेने लगा था। तभी तो मोहन माजी शीबू से कहता है कि पूरा इलाका भीतर-ही-भीतर सुलग रहा है। गैर आदिवासी संगठनों और नेताओं पर आदिवासियों का भरोसा नहीं...सिर्फ एक जुझारू नेतृत्व की जरूरत है और हमें तुम पर भरोसा है।

कहना न होगा कि 'समर शेष है' उपन्यास वास्तविकता में झारखंड राज्य का पूरा इतिहास ही है। इसमें आदिवासी अस्मिता को राजनीति और आंदोलन के बहाने से देखा गया है।

'आमचो बस्तर':

यह किसी से छुपा नहीं है कि आदि से अनादि काल तक आदिवासी समाज के साथ दमन, शोषण निरन्तर होता रहा है। ऐसे में राजीव रंजन प्रसाद का उपन्यास 'आमचो बस्तर' छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले के आदिवासी समाज के साथ हो रहे शोषण को तो दिखाता ही है, साथ ही वह उस शोषण के खिलाफ आदिवासी विद्रोह की महागाथा भी प्रस्तुत करता है। लेखक ने उक्त उपन्यास के माध्यम से बस्तर को समझने का प्रयास किया गया है। इतिहास में बस्तर का जो चित्र मिलता है, वास्तविक बस्तर उससे बहुत ही भिन्न है। डॉ. सुभद्रा राठौर का इस संदर्भ में कहना है-"बस्तर को

सही ढंग से समझने का प्रदर्शन करती एक 'तथाकथित बौद्धिक जमात' पैदा हो गई है, बेहद जरूरी हो गया है कि बस्तर पर सही-सही ,स्पष्ट 'सर्च लाईट' मारी जाए। बस्तर अर्थात् आदिवासी। दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। तकलीफ इस बात की है कि स्थानीय लेखक, इतिहासकार आदि बस्तर को बेहतर समझते हैं, किंतु दिल्ली के दमदारों को वह भूमि जैसी दिखती है। दूर से देखा और परखा गया भ्रामक-सत्य। 'हवाई-निरीक्षण' से प्राप्त टूटे-फूटे, अधकचरे तथ्य को परोस दिया जाता है।"[41]

इस उपन्यास के प्रारम्भ में ही नक्सली हमले का दृश्य दिखाई पड़ता है। यह उपन्यास अपने भीतर दो कथाओं को लेकर चलता है। उक्त उपन्यास में सोमारू, बुदरू, सोमाली जैसे अहं किरदार हैं। इस उपन्यास का प्रारंभ एवं अंत दोनों ही नक्सली हमले से जुड़ा हुआ है। उक्त उपन्यास की पीठिका में उपन्यासकार स्वयं ही कहता है- "प्रस्तुत उपन्यास में दो समानान्तर कहानियाँ हैं। पहली कहानी बस्तर के शिक्षित नवयुवकों से जुड़ी हुई है। इन शिक्षित आदिवासी पात्रों और उनके जीवन-संघर्ष की अनेकों घटनाओं के माध्यम से शोषण, हत्याओं तथा वर्ग संघर्ष के माओवाद से संबंध को समझने का एक प्रयास मैंने भी किया है। दूसरा कथानक मैंने इतिहास के इर्दगिर्द बुना है, जिसमें मेरी कोशिश अतीत के पात्रों को चुन-चुनकर उभारने तथा उन्हें संवाद देने की है। यह सिलसिला मैंने प्रागैतिहासिक काल से प्रारंभ कर महाराजा प्रवीर की हत्या तक प्रस्तुत किया है। वर्तमान और अतीत जैसे दो पृ. सं तक विषयों को जोड़ने के पीछे मेरी बस्तर के पूर्ववर्ती लेखकों का अध्ययन करने के उपरांत उत्पन्न सोच थी कि आदिवासी जागरूक हैं और अपनी लड़ाई स्वयं लड़ना जानते हैं। उन्हें विचारधाराओं की घुट्टी पिला कर हो सकता है हम उनके भीतर के मूल तत्त्व से ही वंचित हो जाएँ या कि इस अंचल की पहचान ही बदल जाए। मैंने स्वतः स्फूर्त आंदोलनों और राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिए होने वाले सशस्त्र गुरिल्ला युद्ध के बीच की बारीक रेखा पर उपन्यास में चर्चा की है।"[42]

इसी बस्तर में अनेक प्रकार की जनजातियाँ हैं। उपन्यास का ही एक पात्र शैलेष फ्रांसीसी युगल को इन आदिवासियों के बारे बताते हुए कहता है- "आप रास्ते भर बहुत तरह के आदिवासी , उनके गाँव, उनके रहने और जीने का तरीका देखते हुए चल रहे हैं...यही बस्तर है। बस्तर की जनजातियों में गोंड़ जैसे मरिया, मुरिया, अबूझमाड़ी, धुरवा और डोरिया शामिल हैं। साथ ही अन्य समूह जो गोंड़ नहीं है जैसे भतरा और हल्बा हैं।"[43]

आदिवासी नवयुवकों को तथाकथित सभ्य समाज के लोगों के द्वारा लगातार अपमानित किया जाता है। सदैव उनके साथ हीनता का व्यवहार होता रहा है। सरकारी ऑफिस हो या कॉलेज सभी जगह इन्हें भद्दी टिप्पणियाँ सुननी पड़ती हैं। उक्त उपन्यास के पात्र बुदरू के द्वारा गलत फार्म भरे जाने पर प्रोफेसर सिद्दिकी द्वारा ऐसा ही व्यवहार किया जाता है- " एक फार्म ठीक से नहीं भर सकते? तुम लोग तरक्की करना ही नहीं चाहते। सरकार मुफ्त का खिलाती है, खाते जाओ और पड़े रहो हॉस्टल में सालो-साल।"[44]

आदिवासी अस्मिता के अंग जल, जंगल एवं ज़मीन आलोच्य उपन्यास का भी हिस्सा हैं। आदिवासी समाज अपने क्षेत्र से बहुत प्रेम करता है। 'आमचो बस्तर' में बस्तर के आदिवासियों को वहाँ की नदी, नाले, जंगल से प्रेम करते हुए दिखाया गया है। इसके साथ ही इसमें विविध जनजातियों की उत्पत्ति से जुड़ी लोककथाओं का जिक्र भी आता है। यथा, हलबा जनजाति की उत्पत्ति से जुड़ी यह लोक-कथा- "राजा के खेत में धान की बालियां लहरा रही थीं। उसे चिड़ियों से बचाने के लिए चार बिजूका या हिलने वाला पुतले, जो भी ठीक समझो रखवालों ने खड़े कर दिये थे। एक दिन शिव-पार्वती विचरण करते हुए निकले। पार्वती जी चारों हिलते-डुलते पुतलों को देखकर बहुत खुश हुई। उन्होंने शिव जी को दिखाकर कहा कि कैसे सुंदर हिलने वाले पुतले हैं, जैसे अब बोल पड़ेंगे। शिव जी ने सचमुच ही उन पुतलों को जीवित कर दिया। दो स्त्री और दो पुरुष बन गए। महादेव ने उन्हें

कहा कि जाओ आज से तु हालिबा-टा-हो। हालिबा-टा का अर्थ तुम समझ ही गए होगे, यानी कि हिलने वाला। इसी से हलबा जाति अस्तित्व में आई।"[45] छत्तीसगढ़ के आदिवासी हमेशा अपनी वीरता के जाने जाते थे। अंग्रेजी शासन काल में इन्होंने अनेक विद्रोह किए। जब-जब इनकी अस्मिता पर खतरा दिखाई पड़ा तो आदिवासियों ने सामूहिक रूप से सशस्त्र विद्रोह किया है। आलोच्य उपन्यास में भी आदिवासियों के साथ शोषण का उपक्रम चलता दिखाई देता है। इसकी परिणति तो विद्रोह को ही होना था। विद्रोह के कारण इन पर शासन द्वारा अनेक अत्याचार हुए। इन आदिवासियों को सरकारी मुकदमे दायर किए गए और ये मुकदमे तो केवल दिखावे के लिए ही थे, ये तो पहले ही तय कर लिया गया था, इनको ऐसी सजा दी जाए कि अन्य विद्रोही कांप जाएं। पर यह सत्य है कि बन्दूक के बल पर विद्रोह को दबाया नहीं जा सकता है। उक्त उपन्यास का पात्र गुण्डाधुर विद्रोहियों का एक नया संगठन तैयार करता है, जो कि अंग्रेजों के छक्के छुड़ा देता है। "विद्रोहियों ने भीषण आक्रमण किया, गेयर के होश उड़ गये। वह चारों ओर से घिरा था। वाणों की बौछारों से घायल होते ही उसके सैनिकों में भगदड़ मच गयी।"[46]

आलोच्य उपन्यासकार की आदिवासी चिन्ता यहाँ साफ दिखाई पड़ती है। वह सोचता है यह कैसा संघर्ष है, जिसमें मारने वाला आदिवासी एवं मरने वाला भी आदिवासी। आदिवासियों के साथ हो रहे शोषण के बहाने सत्ता में बैठे लोग मलाई काट रहे हैं। उन्हें रंचमात्र का भी भय नहीं होता है। सरकार के द्वारा आदिवासी समाज को सभी कल्याणकारी व्यवस्थाओं से दूर रखा जाता है और इन समस्याओं के कारण आदिवासी समाज अपने हक एवं अस्मिता की रक्षा के लिए विद्रोह करता है। ऐसे में वह कई बार नैतिक हो या अनैतिक किसी भी प्रकार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का बीड़ा उठाता है। यह विद्रोह किसी भी कारण से हो सकता है, फिर चाहे वह पानी की समस्या से जुड़ा हो, खेती की समस्या से जुड़ा हो या आवास की समस्या से जुड़ा हो। 'आमचो बस्तर' उपन्यास में

विद्रोही आदिवासियों के ये सारे संदर्भ दिखते हैं। उपन्यास का पात्र मरकाम सोचता है- "नक्सलवादी हीरो हैं या विलेन? क्रांतिकारी या विलेन? मरकाम ने सुना था कि दक्षिण बस्तर के नक्सलियों ने लोगों को जल संग्रहण के लिए तालाब खोदने को प्रोत्साहित किया ... आदिवासी परिवारों के बीच नक्सलियों ने बैल बाटे हैं।"[47] कहना न होगा कि आदिवासी समाज की अस्मिता का प्रश्न जो जल, जंगल एवं ज़मीन से जुड़ा होता है, 'आमचो बस्तर' में बहुत ही सराहनीय तरीके से उठाया गया है।

'जहाँ बाँस फूलते हैं':

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसे सर्व धर्म समभाव की वजह से विश्व में महत्वपूर्ण माना जाता है। इस देश में सभी धर्मों के लोगों को आजादी है क्योंकि यह एक धर्मनिरपेक्ष है। यहाँ क्षेत्र का महत्वपूर्ण नहीं हैं, समतल मैदान हो या पहाड़ी सभी लोग एक साथ रह सकते हैं। यह अवश्य है कि आज भी समतल क्षेत्र की अपेक्षा पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने कम विकास किया है या यह कहा जाए इस क्षेत्र पर विकास के लिए ध्यान नहीं दिया गया। यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि तथाकथित सभ्य लोग पर्वतीय लोगों से अपनी तुलना करते हुए उन्हें नीचा समझते हैं और उन्हें आदिवासी, वनवासी, जनजाति आदि उपनामों से सम्बोधित करते हैं। यहाँ तक की इतिहासकारों ने भी इनके साथ न्याय नहीं किया। उन्होंने ने भी इन्हें इन्हीं नामों से सम्बोधित किया है।

अपने देश में जनसंख्या विस्फोट के कारण आदिवासी बाहुल्य कोनों एवं पर्वतीय क्षेत्रों में अतिक्रमण बढ़ा है। अलगाववादियों ने आदिवासियों को अपने राष्ट्र के अन्य लोगों से जुड़ने नहीं दिया। उन्हें अलग-थलग रखा। ऐसे प्रतिबंधित क्षेत्रों मे ईसाई मिशनरियों ने अपना साम्राज्य फैलाना प्रारम्भ किया और अपनी मंशा के अनुरूप इनका धर्म परिवर्तन करवाना प्रारम्भ कर दिया। धर्म परिवर्तन से आदिवासियों पर धार्मिक अस्मिता का संकट छाने लगा। इन पहाड़ी क्षेत्रों मे बाजार एवं उपभोक्तावाद को भी बढ़ावा मिलने लगा, जिसकी वजह से वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध

दोहन होने लगा। यही कारण है कि वहाँ आदिवासियों मे असंतोष की भावना ने जन्म ले लिया। मिजोरम के मिजो जनजाति के लोग इन्हें वाई एवं दीकू के नाम से संबोधित करते हैं।

भारत के आजादी के पश्चात देश में पंचवर्षीय योजना लागू की गई थी। इस पंचवर्षीय योजना मे आदिवासियों को जंगलों पर पुश्तैनी अधिकार एवं प्रशासनिक हस्तक्षेप से छूट दे दी गई। किन्तु आदिवासी समुदायों ने इस विशेष छूट का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया, जिसके कारण बाद में इसे आरक्षित क्षेत्र की सूची में कुछ विशेषाधिकारों के साथ में डाल दिया गया। इसके अलावा कई दूसरे लोग भी जो आदिवासियों का लाभ उठाने में लगे हुए थे, उनकी खबर भी ली गई।

श्रीप्रकाश मिश्र के द्वारा लिखा गया उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' भी कुछ इसी तरह की पृष्ठभूमि पर आधारित है। उक्त उपन्यास में मिजोरम की मिजो जनजाति के जल, जंगल, ज़मीन के लिए उनपर होने वाले शोषण एवं उस शोषण के खिलाफ संघर्ष को बल दिया गया है। यह उपन्यास मिजो विद्रोह के कारण भारत सरकार की कार्यप्रणाली को दिखाने का काम करता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के इस उपन्यास के संदर्भ में आलोचक वीरेन्द्र यादव लिखते हैं-

"भारतीय राष्ट्र राज्य के संदर्भों में केन्द्रीय सत्ता के आधिपत्य और परिधि के प्रतिरोध का यह औपन्यासिक वृत्तान्त, जिस मिजोरम विद्रोह की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है, वह विषय के रूप में हिन्दी में पहली बार है। उत्तर-पूर्व की मिजो जनजाति की अस्मिता व स्वतंत्रता और आर्थिक शोषण के प्रश्नों की भारतीय राजनीति व समाज की मुख्य धारा से टकराहट की यह औपन्यासिक कथा, जिस मिजो समाज और भू भाग से रूबरू है, उसका विस्तार तिब्बत, वर्मा और तात्कालिक पूर्वी बंगाल तक है।"[48]

मिजोरम में मिजो जनजातियों की फसलों को चूहे लगातार नुकसान पहुँचा दिया करते हैं, जिसके कारण यह क्षेत्र भुखमरी के संकट से गुजरता रहता है। सन् 1958 में यह क्षेत्र ऐसे ही भुखमरी

के संकट से जुझ रहा था जिसके कारण मिजो आदिवासियों ने विद्रोह कर दिया था। भुखमरी का आलम यह था कि इनके विद्रोह को पुलिस भी संभालने समर्थ न थी।

आदिवासी समाज में विस्थापन एक बड़ी समस्या है। क्षेत्र कोई भी हो और कोई भी जनजाति हो, विस्थापन तो उनके यहाँ नियमित रूप से होता रहा है। बहरी ताकतों के प्रवेश से कारण इन्हें विकास के नाम पर उनकी अपनी ही ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता रहा है। इसके अलावा वे बेरोजगारी और भुखमरी के कारण स्वयं भी विस्थापित होते रहे हैं। 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास भी इस मामले में अपवाद नहीं है। इसमें भी मिजो लोगों को भुखमरी के कारण मिजोरम से विस्थापित होते दिखाया गया है। विस्थापन के कारण मिजो जनजाति सरकार से नाराज होकर विद्रोह पर उतारू हो गई। इसके लिए उनका संगठन तैयार हो जाता है। मिजो जनजाति के बीच भी 'मिजो फेमाइन फ्रंट' (एमएमएफ) नाम का संगठन तैयार हो जाता है। यह संगठन कुछ दिनों बाद अलग मिजो राष्ट्र की मांग करने लगता है। लालडेङा ने सेवामुक्त हो जाने वाले सैनिकों को अपने संगठन में शामिल किया। यह संगठन अकाल से पीड़ित लोगों के पास अनाज पहुंचाने काम करता था। सरकार ने इस संगठन एवं इसके आंदोलन को कभी गम्भीरता से नहीं लिया और दूसरी तरफ सामान्य जनता में आक्रोश बढ़ता ही जा रहा था। उस आक्रोश को इस संगठन ने एक मंच दिया। इस संदर्भ में मिजो यूनियन के नेता बोईछुआका ने शांतिपूर्ण तरीके से जुलूस निकाल कर अपनी बात को भी रखा- "हम भूख की आग में जलते-जलते धैर्य की सीमा खोते जा रहे हैं। पर वाई सरकार में क्या इतना धैर्य है कि हमारे कराल रुदन पर उसे दया आएगी, उसके तो कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। दिल्ली से गुआहाटी और गुआहाटी से आइजाल तक फैला यह प्रशासन का डाइनासोर जरा भी हरकत में नहीं आता.... किसी ने बीच में टोका इस डाइनासोर को मार डालो और हँसी का फव्वारा फूट पड़ा। बोइछुआका ने बोलना जारी रखा हम एक बार डिप्टी कमिश्नर साहब के माध्यम से असम सरकार से जता देना

चाहते हैं कि मिजो जनता अब भूखे नहीं रह सकती...।"[49] इस शान्तिपूर्ण आंदोलन में लालडेङा को बोइछुआका ने मंच पर चढ़ने नहीं दिया और न ही आंदोलन बढ़ाने में इसका समर्थन लिया। बोइछुआका जब डी. सी. साहब को ज्ञापन सौंपता है तो उसी दौरान लालडेङा मंच पर चढ़कर वाई लोगों के खिलाफ मिजो लोगों को भड़काने का काम करता है, उनकी तिजोरियों को लूटने को बोलता है- "समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत उठें और इस निहंग धरती का भाग्य बदलें।"[50] लालडेङा के इस भाषण के बाद पूरे आइजाल में जमकर लूट-पाट हुई। वाइयों के घरों पर पत्थर भी फेंके गए यहाँ तक कि जेल पर भी आक्रमण कर दिया गया। जेल के सभी कैदियों को वहाँ से छुड़ाकर एच.एच.ओ. साहब की हत्या कर दी गई और हथियारों को लूट लिया गया।

आदिवासी मिजो लोगों के प्रति सरकार ने भी निरंतर हठी रवैया अपनाए रखा और उनके विद्रोह को दबाने के लिए सामरिक शक्तियों का सहारा लिया। इसी क्रम में फौज का अफसर हवा सिंह लगातार विद्रोहियों को खोजने लगा। गाँव वालों से मदद न मिलने के कारण वह इन पर भी खीझ रहा था। मिजो जनजाति के इस आंदोलन के पीछे ईसाईयत एवं पादरियों के अत्याचार का बहुत ही बड़ा योगदान था- "पादरी गाँव का सबसे सम्मानित व उतना ही मक्कार आदमी था।"[51] हवा सिंह ने पादरी से विद्रोहियों के संदर्भ में जानने की बहुत कोशिश की, पर उसे सफलता न मिली। गुस्साए हवा सिंह ने पादरी के लिंग को चीरकर उसमें नमक भर देने का आदेश दे दिया। विद्रोह को कभी बंदूक से नहीं दबाया जा सकता है और यही गलती सरकार एवं उनके कारिन्दे लगातार कर रहे थे। हवा सिंह ने ऑपरेशन के दौरान मणिपुर के कुछ गरीब लड़कों को मौत के घाट उतार दिया, जिससे गुस्साए उन घरों के युवा मिजो नेशनल आर्मी में शामिल हो गए। विद्रोहियों ने हिंसक रूप धारण कर लिया और फौजियों के कैम्प को तहस-नहस कर दिया। परिणामतः: दोनों तरफ के लोगों मे खुली जंग शुरू हो गई।

इस क्रम में गाँव की सामान्य जनता फौजियों एवं बागियों के द्वारा लगातार शोषित की जाने लगी। फौजी लोग बागियों की खोज में इनके घरों की तलाशी लेते थे और तलाशी के नाम पर "नगदी की लूट, जानवरों की छूट, बेगुनाहों पर बूट और युवतियों की छाती पर मूठ"[52] का खेल चलता था। उधर बागियों द्वारा लगातार टैक्स न देने पर जान से मारने की धमकी दी जाती थी। आदिवासी समाज में हमेशा ही वाई द्वारा उनकी स्त्रियों को गलत निगाह से देखा जाना एक मुद्दा रहा है। वे इनकी स्त्रियों को उपभोग की वस्तु समझते हैं। यह मानसिकता आज भी ऐसी ही है। आलोच्य उपन्यासकार ने भी अपने उपन्यास में सरकारी अफसरों के द्वारा किया जाने वाला यह कुकृत्य दिखाया है। फौजी अफसर हवा सिंह सोइला की बेटी को अपने कैम्प में उठवाकर ले आता है एवं सिपाहियों से अत्याचार करवाता है और उसके पिता को जमीन में जिन्दा गड़वा देता है। इसके बाद मिजो विद्रोहियों ने हवा सिंह की निर्मम हत्या कर दी। इस तरह मिजो विद्रोह खुल कर सामने आ गया। तात्कालिक प्रधानमंत्री ने मिजो विद्रोह को दबाने के लिए लालडेङा को अपनी पार्टी में शामिल होने का निमंत्रण दिया। लालडेङा उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। अन्त में सैनिक कार्यवाही होती है और मिजो विद्रोह का अपेक्षित परिणाम नहीं आ पाता है। इस क्रम में अत्यधिक संख्या में विद्रोही मारे जाते हैं। उक्त उपन्यास के संदर्भ में डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ लिखते हैं- "यह उपन्यास ग्रामीण पृष्ठभूमि का होते हुए भी ठेठ व्यवस्था विरोधी उपन्यास की श्रेणी में आता है। व्यवस्था के प्रति आदिवासियों में अब इतनी नफरत है कि इन मिजो आदिवासियों को हथियार उठाने से भी गुरेज नहीं है। विकास के लिए पैसों को जेब में रखकर ऐसा करने वाले वाइयों और सामंती शोषण के प्रतीक साइलो लोग, इस पिछड़े अंचल को भूख, उत्पीड़न और गरीबी में जकड़े देखना चाहते हैं। इनके विरुद्ध लड़ते हुए जनसाधारण की सोच अलगाववादी लगती है।"[53]

'काला पादरी':

हाल में ही गुज़रे महत्वपूर्ण कथाकार तेजिंदर द्वारा लिखित 'काला पादरी' उपन्यास आदिवासी समाज का उत्तर आधुनिक दस्तावेज़ कहा जा सकता है। इस उपन्यास में यह दिखाया

गया है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में सरगुजा के जंगलों में बसे महेशपुर गाँव में आदिवासियों के साथ लगातार घटनाएं घट रही थीं। इन घटनाओं ने आदिवासियों का पूरा जीवन ही बदल डाला था। जीवन की बुनियादी जरूरतों एवं प्राणरक्षक औषधियों के बदले उन पर बलपूर्वक ईश्वर को थोप दिया गया। यह हमेशा से होता रहा है कि ताकतवर संस्कृति कमजोर संस्कृति पर हावी होती रही है और उसे अपने हिसाब से ढालती रही है। यह बात आलोच्य उपन्यास में बड़ी ही गंभीरता से सामने आई है। डॉ. वीरेंद्र यादव ने 'काला पादरी' के बारे में लिखा है- "सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता का विमर्श रचते हुए प्रायः हिन्दी कथाकार हिंदू-मुस्लिम संबंधों एवं हिन्दुत्व तथा इस्लाम की टकराहट तक सीमित रहते हैं। तेजिंदर ने अपने उपन्यास 'काला पादरी' में इसे ईसाईयत तक विस्तृत किया है।"[54] इसी क्रम में वे आगे कहते हैं-"तेजिंदर ने भूख की राजनीति से भूख की थियोलॉजी (धर्मशास्त्र) तक का जो सफर 'काला पादरी' में तय किया है, वह संभवतः हिन्दी उपन्यास के लिए नई विषय वस्तु है। यह मुक्ति के 'धर्मशास्त्र' के 'बधुँआ धर्मशास्त्र' में बदले की प्रक्रिया को औपन्यासिक बनाने की साहित्यिक जोखिम भरी या विवादास्पद पहल कदमी भी है। ईसाई मिशनरियों की परोपकारी भूमिका के निहितार्थों को उजागर करते हुए उपन्यासकार हिंदू पुनरुत्थानवादी संगठनों की उस साम्प्रदायिक भूमिका के प्रति सजग है, जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देकर पादरी स्टेंस जैसों की हत्या एवं हिंदू धर्म में ईसाइयों की घर वापसी के राजनीतिक अभियान की जमीन तैयार करते हैं।"[55]

'काला पादरी' में मनुष्य की भूख और धार्मिकता के जटिल अंतर्संबंधों को हाशिए के लोगों के माध्यम से समझाने की चेष्टा की गई है। अपनी दोहरी संरचना में आलोच्य उपन्यास प्रेम और इच्छा का वृतांत भी है। यहाँ प्रेम और विद्रोह के जटिल संबंधों को भी कसौटी पर कसा गया है। यह संबंध द्वंद्वात्मक है। वास्तविकता यह है कि आदिवासी जीवन के विविध पक्ष स्वयं में बहुत से पक्षों

का विलयन कर चलते हैं। ये पक्ष कहीं-न-कहीं मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों से संबद्ध हैं।

तेजिन्दर ने 'काला पादरी' की रचना-प्रक्रिया को समझाते हुए बड़ी ही दुरुस्त बात कही है- "बिशप स्वामी से मेरे संबंध बहुत अच्छे थे, पर वे सरकारी थे और औपचारिक भी। अगर जेम्स खाखा मुझे बिशप स्वामी के बारे में कुछ न बताता तो शायद मैं बिशप स्वामी के भीतर न झाँक पाता। अपने सरगुजा में रहने तक मैं बिशप स्वामी को यह नहीं समझा सका कि मेरे पास एक तीसरी आँख भी है जिससे मैं उन्हें देख रहा हूँ। मेरी तीसरी आँख जेम्स खाखा था।"[56] इसी क्रम में वे आगे कहते हैं " मेरा यह मानना है कि भारत के आदिवासियों के बीच जनतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकारों द्वारा शिक्षा का विस्तार अगर पूरी तरह वैज्ञानिक चेतना, तटस्थता और गंभीरता के साथ किया जाएगा तो बेहतर होगा। ईसाई मिशनरियों तथा रामकृष्ण आश्रमों, सरस्वती शिशु मंदिरों की शिक्षा उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक बोध नहीं दे सकती है, जिसकी उन्हें जरूरत है। मुझे आज भी मध्यवर्ग के कथित साक्षर और दुखद रूप से बेहद संकीर्ण सांप्रदायिक और कैरियरिस्टिक मध्यवर्ग की अपेक्षा उस आदिवासी पर अधिक भरोसा है, जो किसी धर्म के अनुयायी नहीं हैं। दरअसल इसी बात को महसूस करना 'काला पादरी' उपन्यास लिखे जाने के पीछे की मुख्य मंशा रही है।"[57]

उक्त उपन्यास में यह दिखाया गया है कि ईसाई समुदाय सेवा के नाम पर भोले-भाले गरीब आदिवासियों का धर्म परिवर्तन करा देता है। ईसाई समुदाय रोटी के लिए आदिवासियों को गुलाम बनाता है, उनकी पहचान गायब कर देता है। गरीबी के दलदल से निकाल कर एक असामाजिकता के दलदल में लाकर फंसा देता है। इस संदर्भ में इस उपन्यास का कथानायक जेम्स खाखा कहता है- "माँ कहती है कि चूंकि इन्होंने तुम्हारे पिता और दादा को रोटी दी थी, काम दिया था और राज के

बेगार से मुक्ति दिलाई थी, इसलिए तुम्हें अपना पूरा जीवन चर्च की सेवा में बिताना है। क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं हैं।"[58]

यह उपन्यास आदिवासियों की भूख और भूख के दर्द की दर्दनाक कथा को उजागर करता है। उक्त उपन्यास आदिवासी समाज में भूख के कारण तड़पकर मरने वाले आदिवासियों के साथ हो रहे धार्मिक एवं राजनीतिक षड़यंत्र को और उन्हें करने वाले ठेकेदारों के गंदे चरित्र को भी उजागर करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। आज आजादी के 71 सालों बाद भी सरगुजा जैसे क्षेत्र- "लोकतंत्र के सबसे सस्ते सामंतीय संस्करण हैं।"[59]

आलोच्य लेखक ने जेम्स खाखा, सोज़ेलिन एवं सिस्टर अनास्तसिया के द्वारा आदिवासियों के रीति-रिवाज, बेरोजगारी एवं शोषण को दिखाया है। यह बात इनके आपसी संवाद से भी स्पष्ट होती है- "मिशनरीज ने पहली बार हमारे अंदर छिपे एक संवेदनशील मनुष्य को छूने की कोशिश की और फॉर दैट वी आर्नेस्टली इनडेबटेड टू दैम। उन्होंने हमें पढ़ाया लिखाया, बाहर की दुनिया से हमारा परिचय करवाया। हमें हमारे बदरंग और संवेदनहीन हो चुके खोल से बाहर निकालने का काम किया, लेकिन अब अगर वे कहें कि हमने क्रिश्चियन थाट या वे ऑफ़ लाईफ़ को बढ़ावा देने के लिए यह सब किया तो कोई बात नहीं हमें स्वीकार्य है, लेकिन वी शैल सरटेनली नाट एलाऊ देम टू एक्सप्लायट अस क्योंकि जो हमें एक तरह के शोषण से मुक्त कराता है, जब वह खुद हमारा शोषण करने लगता है, तो उसके अंदर का सेंस ऑफ गिल्ट भी खत्म हो जाता है। यह बात और ख़तरनाक होती है, तुम समझ रही हो न।"[60]

जेम्स खाखा के भीतर अपने उरांव आदिवासी होने का एहसास होता है। जेम्स लगातार उरांव जनजाति के प्रति आकर्षण एवं उनके आदिवासीपन को महसूस करता है। उरांव जनजाति के प्रति अपने लगाव को रखते हुए सोज़ेलिन मिंज से बोलता है- "हम भले ही ईसाई बन गये हों, हमें एतराज

नहीं लेकिन मूलतः हम उरांव हैं और उरांव होने के नाते वे उरांव जिन्होंने ने प्रभु यीशु का मार्ग नहीं अपनाया है, उनसे हमारा कोई विरोध नहीं होना चाहिए, उनके और हमारे कन्सर्न एक हैं- अलग-अलग नहीं। अगर उनके पास खाने के लिए चावल नहीं है तो दैट शुड बी अवर कन्सर्न आल्सो।"[61]

भारतवर्ष में ईसाई मिशनरीज आदिवासी समाज के लोगों के बीच जाकर उनको गरीबी से निकालने एवं आर्थिक सहायता देने का छद्म करती रही हैं। इस छद्म उपकार के पीछे उनकी राजनीतिक मंशा काम करती रही हैं। गरीब आदिवासियों को अपने बातों से भ्रमित कर एवं रोटी का प्रलोभन देकर वे उनकी स्थिति गुलामों जैसी स्थिति बना देती हैं। मिशनरियाँ आदिवासियों से उनके सम्मान से जीने का अधिकार एवं आत्मसम्मान तक छीन लेती हैं। छले गए आदिवासियों से धार्मिक स्वतंत्रता छीनकर यीशु की प्रार्थना करवायी जाती है। उनकी अस्मिता के साथ खिलवाड़ किया जाता है। चर्च एवं पादरियों के इस अमानवीय कर्म को लेखक ने बड़ी गम्भीरता के साथ उठाया है। "वे हमें जीवन भर धूल का कीड़ा ही समझें, ही हैज टू रीकेग्नाईज़ अवर न्यू स्टेटस", उसने कहा, "हम लोग जब पढ़-लिख गये हैं, प्रार्थना का काम करते हैं, पूरी चर्च सम्हालते हैं, तो वे बार-बार हमारी बेगार के दिनों की जुगाली क्यों करते हैं।"[62] उपन्यास के ही कुछेक अन्य पात्रों लुइसा टोप्पो और आदित्य की बीच हो रहे संवाद के दौरान आदित्य लुइसा से पूछता है- "तुम्हारे पिता क्या करते हैं, तो वह बोलती है-"वे यीशु के मंदिर में प्रार्थना की बेगार करते हैं।"[63] इस संदर्भ में प्रो. दयाशंकर का कहना है- "तेजिंदर ने उरांव आदिवासी लोककथाओं का इस्तेमाल 'काला पादरी' की अंतर्वस्तु की रचना में किया है और अभिव्यक्ति के उपकरण के रूप में भी। इनमें से दो संदर्भ सबसे क्रांतिकारी हैं। भाई-बहन की उरांव लोक कथा काला पादरी की अंतर्वस्तु का हिस्सा है, लेकिन उनका उपयोग चर्च द्वारा पादरी और नन स्त्री के बीच वर्जित दांपत्य संबंध के विरोध में तेजिंदर ने बहुत प्रभावशाली ढंग से किया है।"[64] लोककथा और यथार्थ के बहाने लेखक ने इस उपन्यास में बहुत से मौजू सवाल उठाए

हैं। आदिवासी उरांव जनजाति क्रोधित है। वह व्यवस्था बदलना चाहती है। इसलिए उक्त उपन्यास में आदिवासियों के मन में यह प्रश्न आता है कि आदिवासी देवता सिंगबोगा "क्या हम सब के हाथों में सींघ देवता की नोक वाले फावड़े नहीं हो सकते, जिनसे हम अपनी जमीन की निदाई-गुड़ाई कर सकें, जिनसे हम जिला प्रशासन के अधिकारियों और पैलेस वाले रायसाहब के चेहरे गोद सकें, जिनसे चर्च की दीवारों पर सोजेलिन मिंज अपने नाखूनों से एक नई इबारत लिख सके और जिनसे बिशप स्वामी.....।"[65]

इस तरह यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि 'काला पादरी' अपनी पहचान से जुड़े संकट के साथ ही आदिवासी जीवन की विसंगतियों को भी हमारे सामने लाने वाला उपन्यास है। यह एक ऐसे संदर्भ से जुड़ा हुआ उपन्यास है, जिस पर लिखने की हिम्मत बहुत कम लोग ही कर पाते हैं। बहरहाल, कथाकार तेजिंदर एक ईमानदार कोशिश तो की ही है।

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ':

' वर्तमान समय में विकास के संदर्भ में यदि चर्चा की जाती है तो पूंजीपतियों का ध्यान सर्वप्रथम जंगलों की तरफ जाता है। तथाकथित विकासवादी समाज आदिवासी इलाकों एवं उनकी ज़मीनों पर अपना पैर जमाना चाहते हैं। सरकार प्रकृति एवं पर्यावरण की परवाह किए बिना ही जंगलों को लगातार काटते जा रही है। इस कारण पर्यावरण असंतुलित हो रहा है। आदिवासी समाज सरकार की इस तरह की योजनाओं का विरोध करता है, तो उसे नक्सली एवं माओवादी कहकर उसके उस विरोध को दबा दिया जाता है।

महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास आदिवासी इलाकों में अन्धाधुंध वन क्षेत्रों के दोहन के कारण पनप रहे पर्यावरण असंतुलन एवं आदिवासी विस्थापन की कथा-व्यथा को दिखाता है। विनय मोहन सिंह इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं-"प्रकृति से अभिन्न जंगली जीवन

जीने वाले आदिवासियों की इतनी अंतरंग तथा प्रामाणिक कथा अत्यन्त सूक्ष्म तथा विविधवर्णी ब्योरों के साथ इसमें वर्णित की गई है कि लेखिका की इस जीवन पर पकड़ तथा पैठ पर चकित होना पड़ता है। यह उपन्यास भारत के सिंहभूमि के आदिवासियों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसकी व्याप्ति जापान, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया तथा विभिन्न द्वीपों पर रहने वाले आदिवासियों के जीवन तक है।"[66]

आदिवासी समाज के जल, जंगल एवं ज़मीन का दोहन होता रहा है। विकास एवं वैश्वीकरण के छद्म से आदिवासियों की अपनी अस्मिता खतरे में दिखाई देती है। जंगलों से कटना इनका अपनी जड़ों से कटने जैसा है क्योंकि इनके लिए अपने जंगल, पहाड़ ही देवी-देवता हैं। इनके बिना इनका सांसारिक जीवन अधूरा होता हैं। महुआ माजी ने सारंडा के जंगलों के माध्यम से आदिवासियों की पर्यावरणीय आस्था को दिखाया है -"वन देवता की अपार कृपा है। उनके सारंड में, तभी तो वर्षों से यह जंगल घना और घना होता चला आया था। इतना घना कि कहीं-कहीं तो दिन के बारह बजे तक जंगल से घुप्प अंधेरा छाया रहता...।"[67]

आदिवासी समाज का अपना विपुल इतिहास है। अपनी अस्मिता के संकट के विरुद्ध उन्होंने सामूहिक आंदोलन करके बचाया है। ऐसे में आदिवासी जंगलों पर जब भी जमींदारों अथवा अंग्रेजों ने कब्जा करना चाहा है, तब-तब आदिवासी लड़ाकों ने अपनी अस्मिता के लिए युद्ध या लड़ाइयाँ लड़े हैं। उपन्यास की एक पात्र मेन्जारी अपने आदिवासी पूर्वजों के संघर्ष को याद करती है- "राजा, जमींदार, अंग्रेज जैसे दिकुओं ने हमारे पुरखों से उनकी ज़मीन का मालिकाना हक़ छीनने के लिए जब-जब कोशिशें कीं, तब-तब उन्होंने मुहतोड़ जवाब दिया। अपने इलाके में घुसने नहीं दिया उन्हें।"[68]

आदिवासी समाज पर जब भी संकट का दौर आया, तब-तब आदिवासी लड़ाकों ने उसका खुलकर सामना किया है। कारपोरेट सेक्टर की स्थापना होने पर उसका खुलकर विरोध करते रहें हैं। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए इन्होंने अलग झारखंड राज्य की भी माँग भी की। उपन्यास के पात्र सगेन द्वारा कारपोरेशन की स्थापना एवं उसके द्वारा आदिवासी जंगलों को काटे जाने का विरोध एवं अलग राज्य की स्थापना के लिए आंदोलन में अपनी भूमिका निभाया जाना आदिवासी अस्मिता के लिहाज से बड़ा ही महत्वपूर्ण है- "यह घटना सत्रह अगस्त उन्नीस सौ अठहत्तर की थी और सगेन भी अपनी कुई-कुकु के भाइयों और उनके साथियों के साथ इस जुलूस में शामिल हुआ था। खाली हाथ नहीं। तीर धनुष लेकर...।"[69]आदिवासी समाज के लोग अपने पुरखों के जंगलों को ऐसे ही नहीं जाने देना चाहते थे । यह आंदोलन एक बड़ा रूप लेने लगा था। सगेन अपना सब कुछ झोंकने को तैयार था। इस आंदोलन को बढ़ते देखकर प्रशासन ने पुलिस बल बढ़ा दिया था। पुलिस के द्वारा आदिवासियों का दमन चक्र जारी था, पर आदिवासी अपनी अस्मिता के लिए लड़ रहे थे। आदिवासी नेताओं ने अपने दुःख को खुल कर व्यक्त किया–"हमें दुःख इस बात का है कि सरकार हम आदिवासियों की इन तमाम गतिविधियों को कानून व्यवस्था भंग किये जाने के नजरिए से देख रही है। इसके नेपथ्य में छिपी हमारी सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को बिल्कुल नजरंदाज कर रही है।"[70]

आदिवासी समाज के लोगों के यहाँ विस्थापन एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आती है। जंगलों के अवैध एवं गैरकानूनी कटाव के कारण आदिवासियों को उनके मूल से ही विस्थापित किया जाता रहा है। महुआ माजी का यह उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' भी आदिवासियों के तथाकथित विकास एवं परियोजनाओं के नाम पर हो रहे उनके विस्थापन को दिखाने का माध्यम है- "नई खादान के कंपनी के लोग कई पुलिसकर्मियों के साथ खड़े होकर उसकी झोंपड़ी को उस गाड़ी

से तुड़वा रहे हैं। कांडे के घर के लोग... उनके पड़ोसी हाय-तौबा मचा रहे हैं, मगर वे किसी की बात नहीं सुन रहे। देखते-देखते करीब बाईस झोंपड़ियां उजाड़ दी गयीं।...और झोंपड़ियों के आसपास के तमाम खेतों को समेटकर वहाँ एक बड़ा-सा डैम बना दिया गया। ..मुआवजे के थोड़े-बहुत पैसे देकर पल्ला झाड़ लिया कंपनी वालों ने।"[71]

जंगलों एवं पहाड़ों में अनेक रत्न छिपे हुए होते हैं। इन जंगलों में आदिवासी समुदाय का निवास होता है। जंगलों में जब खुदाई का काम होता है, तो उस दौरान आदिवासी समाज के लोग वहाँ मजदूरी करते हैं। खुदाई के दौरान निकलने वाले हानिकारक पदार्थों के संपर्क में भी आदिवासी मजदूर आते हैं। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' खदानों से निकलने वाले हानिकारक पदार्थों की चर्चा करने वाला उपन्यास है। यूरेनियम को ड्रम में भरने का काम वहाँ काम पर लगाए गए आदिवासियों को दिया गया था। उपन्यास का पात्र सगेन यूरेनियम के विकिरण के प्रभाव से होने वाले दुष्प्रभाव को बहुत अच्छी तरह से जानता था– "मरंग गोड़ा के लोगों में होने वाली अधिकतर लाइलाज बीमारियों की जड़ में यूरेनियम से होनेवाला विकिरण है न कि किसी दुष्ट बोंगा का प्रकोप या डायन विद्या, जैसे वहाँ के अज्ञानी लोग अब तक समझते रहे हैं और निर्दोषों पर जुल्म ढाते रहे हैं।"[72]

कहना न होगा कि आलोच्य उपन्यास में आदिवासी समाज के विस्थापन और उनके प्रति हो रहे अन्याय को लेखिका ने वैश्विक स्तर पर एक सवाल के रूप में उठाया है। इसके साथ ही इसमें आदिवासियों पर विकिरण के दुष्प्रभाव को सारी दुनिया के लिए चिंताजनक बताया गया है। लेखिका ने इसका बौद्धिक विरोध और सामाजिक जागरूकता को यहाँ एक मुद्दा बनाया है, जिससे यह उपन्यास आदिवासी अस्मिता के साथ जुड़ जाता है।

'छैला संदु'

मंगल सिंह मुण्डा द्वारा रचित 'छैला संदु' आदिवासी अस्मिता को केंद्र कर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। किसी भी समाज अथवा धर्म में जन्म धारण किए हुए इंसान की यह आखिरी

इच्छा होती ही है कि वह जहाँ भी जन्म ले, उसकी मृत्यु भी वहीं हो। पर यह सबके साथ सम्भव नहीं है। आदिवासी समाज की यह इच्छा शायद ही पूर्ण होती हो क्योंकि यह समाज सदियों से विस्थापन का दंश झेलता आ रहा है। सत्ता चाहे ईस्ट इण्डिया कंपनी की हो या राजसत्ता की, दस्तूर यही रहा है। आदिवासी समाज को भी अपनी मातृभूमि से लगाव होता है, वो भी इसे छोड़कर नहीं जाना चहते हैं । पूंजीपति वर्ग सदियों से आदिवासी लोगों को विस्थापित करते आए हैं और उनके संसाधनों पर कब्जा करते आए हैं। आदिवासी समाज का विस्थापन मंगल सिंह मुण्डा के उपन्यास 'छैला संदु' में भी दिखाई पड़ता है। उपन्यास का नायक संदु और उसके नाना जी के आपसी देश-प्रेम से संबंधित वार्तालाप से पता चलता है कि कैसे उन्हें विस्थापित किया गया है- "बेटा संदु देश इस धरती का वह भाग है, जहाँ हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी जन्म लेते हैं और मरते भी हैं। और प्रेम ! किसी भी चीज को मन से चाहने को प्रेम कहते हैं।...अब यह बताओ कि आप भी इसी झोंपड़ी में जन्मे थे? और आप किस चीज को अधिक चाहते थे यानी किस चीज से अधिक प्रेम करते थे? संदु बेटा हम अपने ही देश मे परदेशी हो गए हैं। हम दूसरी जगह से भटकते-भटकते यहाँ आ डटे हैं। हमारे बाप-दादाओं का देश और कहीं था। और वो कौन हैं? बालक उत्सुकता से उस भव्य मकान की ओर संकेत करते हुए कहता जाता है। वो परदेशी देशी बनकर यहाँ रहते हैं बेटा रे।"[73] आदिवासी समाज के इस दर्द पर लेखक ने बल दिया है एवं आदिवासियों की मन: स्थिति को जानने का प्रयास किया है।

आदिवासी समाज में आर्थिक अस्मिता का प्रश्न बहुत गम्भीर विषय है। इस समाज के लोगों को भी लिए रोजगार एवं जीविकोपार्जन के लिए धन की आवश्यकता होती है। आर्थिक तंगी एवं विस्थापन की वजह से यह समाज अपना स्थाई निवास भी नहीं बना पाता। जीविकोपार्जन के लिए उन्हें दर-दर भटकना पड़ता है। 'छैला संदु' उपन्यास में भी लेखक ने एक ऐसा ही करुण दृश्य दिखाया है– "यहाँ एक आदिवासी परिवार रहता है । घर-परिवार के हाव-भाव से आभास होता है कि यह परिवार जीविकोपार्जन की तलाश में भटकते-भटकते यहाँ आकर टिक गया है। इसका घर क्या है कि

मात्र एक पड़ाव कहा जाए। अपने गुजारे की तलाश में अपनी जान-माल की रक्षा हेतु भटकते एक इंसान का पड़ाव है।"[74]

समाज के प्रत्येक समाज की तरह आदिवासी समाज का भी अपना परिवार होता है। इस मानवीय समाज के द्वारा एक तरफ वर्चस्ववादी स्त्रियों मे देवी का रूप तो दूसरी तरफ आदिवासी स्त्रियों में वासनात्मक रूप क्यों दिखता है? जंगलों में अंग्रेज, राजसत्ता के लोग, सरकारी कारिंदे अथवा ठेकेदार आदिवासी स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझकर उनका शारीरिक शोषण करते हैं। उपन्यास में राजा विक्रम सिंह के राज में आदिवासी स्त्रियों से मुंह काला करने में ऐसे लोग लगे हुए हैं- "एक बार तमाड़ कस्बे के बाजार में वह अपने अंगरक्षकों के साथ टहल रहा था। उसकी नजरें एक सुन्दर युवती पर पड़ीं। देखते ही उसके मन में वासना की आग भभक उठी। उसने अंगरक्षक को पास की कपड़े की दुकान से दो धोती लाने का हुक्म दिया। फिर मैदान पर ही, उन धोतियों का पर्दा बना, उस युवती से मुँह काला कर बैठा।"[75] आदिवासी स्त्रियों की इस शोषण परम्परा के खिलाफ संघर्ष किया जाना अति-आवश्यक है। अपनी अस्मिता की रक्षा करना आदिवासी स्त्रियों का प्राथमिक धर्म होना चाहिए। उक्त उपन्यास की स्त्री पात्र बेला स्त्रियों को अपने बचाव के संदर्भ में संदेश देते हुए कहती है– "जब अपने प्रयास में विफलता का अन्तिम क्षण आने लगता है तो सहमति क रुख अख्तियार कर लो। उँगलियों से सिर के बाल टटोलो। वहाँ तुम्हें एक हजामत वाली छुरी छिपी मिलेगी। उस छुरी से उसका गुप्तांग काट ...।"[76]

कहना न होगा कि 'छैला संदु' हिन्दी के समकालीन उपन्यासों में उस तरह का उपन्यास है, जो आदिवासी संस्कृति को पूरी संजीदगी से समझने तथा समझाने की चेष्टा करता है। यह आदिवासी अस्मिता को उसके मूल रूप में ग्रहण करता है और उसके संरक्षण का अपने हिसाब से प्रयास करता है

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. नन्दवाना, डॉ. नवीन (सं.), 'समवेत', अर्द्धवार्षिक पत्रिका, उदयपुर, आदिवासी विशेषांक , जुलाई 14 पृ. सं .28
2. संजीव, धार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2011, पृ. सं . 14
3. वही, पृ. सं .18
4. वही,पृ. सं .8
5. वही,पृ. सं .114
6. वही,पृ. सं .143
7. वही,पृ. सं .175
8. वही,पृ. सं .94
9. वही, पृ. सं .130
10. वही, पृ. सं .136
11. वही, पृ. सं .137
12. वही, पृ. सं .199
13. वही, पृ. सं .200
14. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता,भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,दूसरा संस्करण, 2014, पृ.सं.11
15. वही, पृ. सं .12
16. शर्मा, डॉ. सत्यपाल (सं.), मीन, टीकम चन्द्र, आदिवासी जीवन संस्कृति, संघर्ष और हिन्दी- साहित्य , प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2016 पृ. सं .125

17. वही,पृ. सं .126

18. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स इंडिया, प्रथम संस्करण-2014 , पृ. सं .120-121

19. वही, पृ. सं .158

20. वही, पृ. सं .228

21. वही, पृ. सं .164

22. वही, पृ. सं .219

23. मधुमति पत्रिका अंक 119,जनवरी 2009 ,राजस्थान साहित्य अकादमी,उदयपुर (रमेश चन्द्र मीणा, पिंटू कुमार, मानगढ़ आन्दोलन केन्द्रित हिन्दी साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2013 पृ. सं .48

24. मीणा, पिंटू कुमार, मानगढ़ आंदोलन केन्द्रित हिन्दी साहित्य ,अलख प्रकाशन,जयपुर,प्रथम संस्करण 2013,पृ.सं. 48

25. समवेत पत्रिका आदिवासी विशेषांक, अंक 5 जुलाई, 2014 ,उदयपुर पृ.सं. 15

26. मीणा, हरिराम, धूणी तपे तीर,साहित्य उपक्रम,2008, पृ. सं . 25-26

27. वही,पृ. सं .178

28. वही,पृ. सं .70

29. वही,पृ. सं .326

30. समवेत पत्रिका आदिवासी विशेषांक, अंक 5 जुलाई, 2014 ,उदयपुर पृ.सं. 15

31. मीणा हरिराम, धूणी तपे तीर,साहित्य उपक्रम, राजस्थान, 2014, पृ.सं.355 -356

32. वही,पृ. सं .336

33. वही,पृ. सं .371

34. कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. सं. 07

35. वही,पृ. सं .09

36. वही,पृ. सं .87

37. वही,पृ. सं .55

38. सोरेन, शीबू, सरकार झूठ बोलती है, दिनमान, 30 नवंबर-6दिसंबर, 1986, सतीश झा(सं.), पृ. सं ष्ठ 24

39. कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. सं 16

40. वही,पृ. सं .209

41. 'उद्धृत', सं. भारती, डॉ. अमित कुमार, हिन्दी उपन्यास और आदिवासी विमर्श, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, संस्करण: प्रथम, 2017, पृ. सं .106

42. प्रसाद, राजीव रंजन, आमचो बस्तर, यश पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, संस्करण: 2013, पृ. सं .10

43. वही,पृ. सं .94

44. वही,पृ. सं .22

45. वही, पृ. सं .187

46. वही,पृ. सं .277

47. वही, पृ. सं .308

48. यादव, वीरेन्द्र, उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2009, पृ. सं . 164

49. वही, पृ. सं .130

50. वही, पृ. सं .130

51. वही, पृ. सं .96

52. वही, पृ. सं .107

53. अमिताभ, डॉ. वेदप्रकाश, समकालीन हिन्दी साहित्य:संवेदना और विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. सं . 88

54. 'उद्धृत', सं. भारती, डॉ. अमित कुमार, हिन्दी उपन्यास और आदिवासी विमर्श, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, संस्करण: प्रथम, 2017, पृ. सं .14

55. वही, पृ. सं .14

56. वही, पृ. सं .16

57. 16-17

58. गगन, तेजिन्दर, काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002 पृ. सं. 47

59. वही, पृ. सं .16

60. वही, पृ. सं .109

61. वही, पृ. सं .110

62. वही, पृ. सं .46

63. वही, पृ. सं .53

64. 'उद्धृत', भारती, डॉ. अमित कुमार (सं), हिन्दी उपन्यास और आदिवासी विमर्श, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, संस्करण: प्रथम, 2017, पृ. सं . 39

65. वही, पृ. सं .109

66. माजी, महुआ, मारंग घोड़ा नीलकंठ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पुस्तक के फ़्लैप से।

67. वही, पृ. सं .13

68. वही, पृ. सं .30

69. वही, पृ. सं .115

70. वही, पृ. सं .117

71. वही, पृ. सं .89

72. वही, पृ. सं .158

73. मुण्डा, मंगल सिंह, छैला संदु, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं .19

74. वही, पृ. सं .18

75. वही, पृ. सं .25

76. वही, पृ. सं .66